जहरमुक्त खाद्याद मुहैया करवाने का एकमात्र विकल्प प्राकृतिक खेती

भारत कृषि प्रधान देश है। देश की बहुत बड़ी आबादी की रोजी रोटी खेती के सहारे है। एक मान्यता जो सच्चाई पर आधारित है कि कृषि देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। समाज में खेती का क्या दर्जा था, इस बारे में पुराने जमाने में एक कहावत प्रचलित थी-

“उत्तम खेती, मध्यम बान,
अधम चाकरी, भीख निदान”

इस कहावत में उस दौर में खेती के प्रति सामाजिक नजरिए की झलक मिलती है। इसमें खेती को सबसे ऊँचा दर्जा दिया गया है। इस कहावत की यहाँ चर्चा का उद्देश्य समाज विज्ञान की नजर से सामाजिक विश्लेषण करना नहीं है। बल्कि विकास के बढ़ते क्रम में खेती की भूमिका को समझने में एक कालखण्ड की यह झलक कुछ मददगार साबित हो सकती है। परम्परागत खेती बनाम आज की आधुनिक खेती के गुण-दोषों को परस्पर जाँचा परखा जा सकता है।

जरा सोचिए कि यह कहावत किन हालात में तैयार हुई होगी तथा उसके पीछे किस तरह का सोच रहा होगा? रोजी रोटी की जरूरत तो सबको होती है और रोजी-रोटी कमाने के लिये साधन भी चाहिए, लेकिन इसके साथ ही यह भी कहा जाता है कि इज्जत के साथ रोटी मिले, भले वह रूखी सूखी क्यों न हो। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के अपमान भरे राजकीय आतिथ्य के व्यंजन छोड़कर महात्मा विदुर की पत्नी के भाव भीने आतिथ्य के कारण उनके हाथों दिये गए केले के छिलके बड़े प्रेम से खाये थे। इसका कारण यह है कि आत्मसम्मान सबको प्यारा होता है।

कहावत में वक्त के उस दौर में आजीविका के लिये जो मुख्य चार माध्यम या साधन उपलब्ध थे, उनका जिक्र किया गया है। उनके वर्गीकरण में जो क्रम दिया गया है, उसके मूल में ऐसा भाव शामिल रहा होगा कि आजीविका के किस माध्यम में आत्मसम्मान किस हद तक बरकरार रह सकता है। इसी आधार पर परस्पर तुलना कर आजीविका के किसी साधन को बेहतर माना गया एवं किसी को कमतर। ऐसी कहावतें उन बुजुर्गों ने गढ़ी होंगी जो तत्कालीन समाज के ताने बाने को अच्छी तरह से समझते थे। उन्होंने अपने अनुभव और विवेक से सामूहिक तौर पर नतीजे निकाले होंगे। उन नतीजों को कहावतों में ढालकर जन-जन तक फैला दिया होगा।

यह कहावत, परिवार के स्वाभिमान सहित उदर पोषण के पक्ष में एक अभिव्यक्ति है जो तत्कालीन समाज के सामूहिक सोच को उजागर करती है। इसी के मद्देनजर ही उस दौर में खेती किसानी सबसे अच्छी मानी गई। पुराणों के अनुसार त्रेता युग में मिथिला नरेश महाराजा जनक द्वारा खेत में हल चलाने का उल्लेख है। द्वापर युग में भगवान श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम खेती के लिये अपने कन्धे पर 'हल' धारण कर 'हलधर' के नाम से विख्यात हुए हैं।

आज भी किसान भगवान बलराम को खेती के आराध्य देव के रूप में मानते हैं। जिस किसान के पास जितनी भी निजी खेती होती थी वह उतने में ही गुजर-बसर करता था। सामाजिक परम्पराओं के आधार पर उस समय एक जीवनशैली विकसित थी। सुख से जीने का एक तरीका यह था कि 'जेती चादर तेते पैर' यानी जितनी चादर हो उतने पैर फैलाएँ। किसी दूसरे के सामने हाथ फैलाना या दूसरे के भरोसे रहना अच्छा नहीं माना जाता था। 'खेती आप सेती', 'खाओ मोटा पहनो मोटा, कभी न आवे टोटा' की सीख परम्परागत रूप से लोगों को अपने पूर्वजों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी मिलती थी। 'पराधीन सपनेहु

सुख नाहीं' की सीख को व्यक्तिगत तौर पर और सामाजिक तौर पर भी स्वीकार किया गया था। इसलिये पराधीनता को लाचारी में ही स्वीकार किया जाता होगा।

सम्भवतः तत्कालीन समाज ने चार्वाक दर्शन को स्वीकार नहीं किया था। इसलिये कर्ज लेने को भी अच्छा नहीं माना जाता था। इसके सन्दर्भ में कहावत थी 'कर्ज भला ना बाप का'। जिनके पास खेती करने के लिये जमीन की खुद की मिलकियत नहीं थी अथवा खेती की जमीन होते हुए भी अन्यान्य कारणों से जो स्वयं किसानी नहीं करते थे, उन्हें आजीविका के अन्य साधन अपनाने पड़ते थे। गाँव में खेती के अलावा आजीविका के कुछ और साधन होते थे। वे साधन थे व्यापार, नौकरी और भिक्षा वृत्ति।

खेती के बाद दूसरे क्रम पर व्यापार माना जाता था। जिनके पास कुछ पूँजी होती थी तथा जिनमें खरीद फरोख्त का हुनर होता था, वे व्यापार करते थे। कुछ लोग अपनी पूँजी से साहूकारी भी करते थे। जो लोग खेती और व्यापार दोनों करने में सक्षम नहीं थे, वे किसानों के खेतों में मजदूरी करते थे या गाँव के बड़े आदमी के यहाँ सेवा-टहल करते थे। यानी दूसरों की नौकरी-चाकरी। व्यापार के बाद तीसरे नम्बर पर चाकरी थी जिसे पसन्दगी से नहीं बल्कि लाचारी में अपनाना पड़ता होगा, इसलिये इसे अधम कहा गया और जिनके उदर पोषण के लिये उपर्युक्त तीनों माध्यमों के दरवाजे बन्द थे, उन्हें भीख माँगकर गुजारा करना पड़ता था। इसलिये भिक्षा को सबसे हेय, निकृष्ट साधन माना जाता था।

खेती क्यों उत्तम मानी जाती थी?

शायद इसलिये कि उसमें किसान की आत्मनिर्भरता थी और कुछ हद तक स्वायत्तता भी

थी। यद्यपि उद्योगीकरण शुरू होने पर उसमें नए रोजगारों का सृजन हुआ, लेकिन जिस दौर की यह झलक है वह उद्योगीकरण के पहले का दौर था। इसलिये सारे रोजगार खेती पर आश्रित थे।

किसान स्वयं तथा उसका परिवार खेत में जी-जान से मेहनत करता था। जरूरत पड़ने पर खेतिहर मजदूरों की सेवाएँ लेता था जिससे उन मजदूरों को रोजगार मिलता था। बटाईदारी की भी प्रथा प्रचलन में आ गई थी। इसके तहत भू-स्वामी किसान किसी भूमिहीन लेकिन योग्य एवं सक्षम व्यक्ति को बटाईदार के रूप में एक तयशुदा अवधि या कम-से-कम एक साल के लिये खेती में शामिल कर लेते थे। बटाईदार के साथ सेवा की कुछ शर्तें तय होती थीं। उसके एवज में फसल आने पर उत्पादन का एक तयशुदा हिस्सा बटाईदार को मिल जाता था। आजीविका के लिये खेती का जो साधन था वह आजीविका के अन्य तीनों साधनों के केन्द्र में होता था। व्यापार, नौकरी-चाकरी तथा भीख या दान ये तीनों माध्यम खेती के इर्द-गिर्द रहते थे तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस पर आश्रित रहते थे। उस दौर में की जाने वाली परम्परागत खेती की बुनियादी जरूरतों पर विचार करें। खेती-किसानी करने के लिये जो चीजें जरूरी थीं, वे थीं जमीन, बैल, बखर, हल, बीज और खाद। ये सभी किसान के सीधे स्वामित्व या नियंत्रण में थीं। इनके अलावा जरूरी चीजें और भी थीं, वे थीं, पानी और मेहनत।

पानी वर्षा से आता था जिससे खेतों में नमी आती थी। कुछ पानी सतह पर बहकर नदी नालों से होता हुआ समुद्र में जा मिलता था और कुछ पानी जमीन से रिसकर नीचे चला जाता था, जो कुओं आदि में प्रकट होता था। वर्षा से प्राप्त नमी से बीज का अंकुरण होता था एवं फसल तैयार होती थी। इसके अलावा दूसरी जरूरी चीज मेहनत थी जो खुद की होती थी। गौ-वंश से खेती का सीधा और अटूट रिश्ता था। किसान गायें पालते थे

जिससे उन्हें अतिरिक्त आर्थिक मदद भी मिल जाती थी। बछड़े बड़े होकर बैल बनते थे, जिनसे खेती और परिवहन में काम लिया जाता था।

खेती की परम्परागत प्रणाली और व्यवस्था

खेत में नमी के बिना अंकुरण सम्भव नहीं था। अधिकांश किसान पानी के लिये प्रकृति पर निर्भर थे। बरसात के मौसम में खरीफ की फसल ली जाती थी। उसके बाद खेत में बरसाती पानी के कारण मौजूद नमी, ठंड के मौसम में गिरने वाली ओस और मावठा से रबी फसल तैयार कर ली जाती थी। बिना ऊपरी सिंचाई के सूखी खेती के तरीके लोगों ने खोज निकाले थे।

सिंचाई के अन्य साधन भी विकसित किये जा रहे थे। कुएँ से पानी निकालने के लिये लीवर के सिद्धान्त पर काम करने वाली ढेंकी और बैलों से चलने वाली मोंट तथा रहट थे। ये सिंचाई के अच्छे साधन थे। कुएँ से निकले पानी को कच्ची नालियों से खेत तक बहाकर ले जाते थे। तालाब से भी सिंचाई की व्यवस्था होती थी। खेती के लिये सिंचाई के अलावा खेत में श्रम यानी मेहनत की जरूरत होती थी।

किसान स्वयं तथा उसका परिवार खेत में जी-जान से मेहनत करता था। जरूरत पड़ने पर खेतिहर मजदूरों की सेवाएँ लेता था जिससे उन मजदूरों को रोजगार मिलता था।
बटाईदारी की भी प्रथा प्रचलन में आ गई थी। इसके तहत भू-स्वामी किसान किसी भूमिहीन लेकिन योग्य एवं सक्षम व्यक्ति को बटाईदार के रूप में एक तयशुदा अवधि या कम-से-कम एक साल के लिये खेती में शामिल कर लेते थे। बटाईदार के साथ सेवा की कुछ शर्तें तय होती थीं। उसके एवज में फसल आने पर उत्पादन का एक तयशुदा हिस्सा

बटाईदार को मिल जाता था। जिन परिवारों में पुश्तैनी खेती होती थी उनके पास सभी साधन होते थे।

गाँव अपने आप में काफी हद तक आत्मनिर्भर इकाई हुआ करता था। मवेशी रखना खेती के लिये अनिवार्य शर्त थी। हरेक किसान मवेशी पालता था। किस किसान के पास कितने मवेशी हैं तथा कितने बखर चलते हैं, उससे समाज में उसकी हैसियत पता चलती थी। गाय, भैंस से दूध, दही, घी की जरूरतें पूरी होती थीं। बैलों को जोतकर खेत में हल, बखर चलाते थे और उन्हीं को गाड़ी में जोतकर फसल या अनाज ढोते थे। तैयार फसल की दावन इन्हीं बैलों की मदद से की जाती थी। इन मवेशियों को चरने के लिये खेत की मेंड़ों का चारा और दावन या गहाई से निकला भूसा मिल जाता था। किसान अपना परम्परागत बीज सम्भालकर रखता था।

अनाज और बीज के भण्डारण के लिये सुरक्षित तकनीक विकसित की गई थी, जिसके तहत जमीन के भीतर भण्डारण किया जाता था। जमीन में कुआँ नुमा गोल गड्ढा बनाया जाता था जो कुएँ से कम गहरा होता था ताकि भूजल की उथली सतह से भी काफी ऊपर रहे, जिससे नीचे से नमी उस गड्ढे में नहीं आ सके। उसे 'बिंडा' कहा जाता था। रबी फसल कटने के बाद तेज गर्मियों के दिनों में, जब हवा पूरी तरह सूखी होती थी, उस बिंडा के भीतर भूसे एवं नीम की पत्तियों की परतें बिछाई जाती थीं जिन पर बीज और अनाज रखा जाता था। तेज गर्मी के मौसम में ही बिंडे का मुँह मिट्टी की काफी मोटी परत से पाट दिया जाता था।

बिंडे के ऊपर पाटी गई मिट्टी की आकृति शंकुनुमा होती थी। इस शंकु का केन्द्र बिंडा के केन्द्र पर लम्ब जैसा होता था। इसी विशेष संरचना के कारण बरसात का पानी बिंडा पर

नहीं ठहरता था तथा बिंडा के भीतर नमी या सीलन प्रवेश नहीं कर पाती थी। नीम की पत्तियों के कारण बीज में कीड़े नहीं लगते थे। इससे बीज पूरी तरह सुरक्षित रहता था। अनाज भण्डारण के लिये बिंडा तत्कालीन समय की अनुकूल टेक्नोलॉजी का बेजोड़ नमूना था।

खेती संरक्षण का परम्परागत विज्ञान

जमीनें उपजाऊ थीं। हजारों साल तक खेती करने के बावजूद वे बंजर नहीं हुई थीं। उनका उपजाऊपन नष्ट नहीं हुआ था। उन्हें उपजाऊ बनाए रखने के गुर भी किसान जानते थे। इसमें जमीन को आराम देना भी शामिल था। खाली खेत को सूरज से पर्याप्त धूप मिल जाती थी। आराम देने के लिये खेत को 'डेल' (पड़ती) डाल देते थे। यानी बारी-बारी से खेत का एक हिस्सा एक साल के लिये बिना बखरे-बोये खाली छोड़ दिया जाता था तथा अगले साल दूसरा। अनाज, दलहन और तिलहनी फसलें बदल-बदलकर बोई जाती थीं।

बहुफसली खेती प्रचलित थी। किसान जानते थे कि किस जमीन में किस वातावरण में और बरसात के उतार-चढ़ाव में कौन-सा बीज बोना चाहिए। वे मवेशियों के गोबर की खाद बनाकर इस्तेमाल करते थे। रासायनिक खाद तो उस समय कोई जानता ही नहीं था। इन गुरों की वजह से जमीन की पैदावारी की ताकत यानी उर्वरक क्षमता को कभी नुकसान नहीं पहुँचा। परम्परागत बीज चूँकि सदियों से चल रहे थे, जिससे उनमें मौसम के उतार चढ़ाव को सहने की क्षमता तथा रोगों की प्रतिरोधक क्षमता विकसित हो चुकी थी। इसलिये कीटनाशक दवाइयों की जरूरत ही नहीं पड़ती थी।

रबी फसल के लिये खेत में बीज बोने का काम क्वार (आश्विन) माह के उत्तरार्द्ध में

प्रारम्भ होकर कार्तिक माह के पूर्वार्द्ध में दीपावली के पहले धनतेरस तक पूरा हो जाता था। यह वह समय होता था जब बरसात समाप्त हो चुकती थी और खेतों में पर्याप्त नमी रहती थी। हल बखर से पहले खेत तैयार कर लिया जाता था और उसके बाद बोवनी होती थी। नमी से बीज का अंकुरण होता था। धनतेरस पर बोवनी यंत्र 'नारी' पूजने की रस्म होती थी। इस पूजन का मतलब था कि बोवनी का काम पूरा हो चुका है।

खलिहान में लगी अनाज की ढेरी, जिसे 'रास' कहते थे उसकी नपाई पात्र 'सेई' से करता था। 'सेई' का पात्र पाई के आठ गुना आयतन के बराबर होता था। 12 सेई का एक बोरा होता था। नापने की क्रिया को 'ढँगना' कहते थे। खलिहान में अनाज को तौलने की परम्परा नहीं थी। नपाई से कुल उत्पादित अनाज की मात्रा ज्ञात की जाती थी तथा वितरण भी नपाई से किया जाता था। नपाई करने के बाद ही वह अनाज किसी को दिया जा सकता था या खलिहान से बाहर ले जाया जा सकता था।'नारी' वास्तव में खेत में बीज बोने का एक यंत्र था जिसे बैल खींचते थे। इसमें ऊपर एक चाड़ी (चुंगी) होती थी जो पाइपनुमा पोले बाँस से जुड़ी होती थी। पाइप के नीचे का सिरा खेत में पहुँचता था। चाड़ी की ऊँचाई इतनी होती थी कि बोनी करने वाले आसानी से चाड़ी में बीज डाल सकें। चाड़ी में डाला गया बीज जोते गए खेत में कुछ गहराई पर गिर जाता था। बोवनी करने वाला किसान एक थैली कन्धे से टाँगे रहता था जिसमें बीज रखा रहता था। किसान द्वारा बीज डालने की प्रक्रिया 'ढुली ऊरना' कहलाती थी। बैल 'नारी' खींचते चलते थे और ढुली ऊरते रहने से बुवाई हो जाती थी। बरसात में खेत में गिरे पानी से जो नमी रहती थी उसका इस्तेमाल हो जाता था। बीजों का इस तरह का चुनाव होता था कि बरसात की नमी, ठंड में गिरने वाली ओस तथा मावठे से पूरी फसल तैयार हो जाती थी। यह वास्तव में बिना सिंचाई वाली सूखी खेती थी।

अनुकूल टेक्नोलॉजी

लोग इंजीनियरिंग और टेक्नोलॉजी जैसे भारी भरकम शब्दों से भले ही परिचित न हों, लेकिन उस वक्त की जरूरत को समझकर खेती में लगने वाले सभी तरह के औजार, यंत्र गाँव के ही कारीगर बनाने में माहिर थे। उन्हें इस बात की भी महारत हासिल थी कि वे सारे यंत्र, औजार कम-से-कम खर्च में, जो चीजें वहाँ आसानी से उपलब्ध थीं, उनसे तैयार कर देते थे। उन औजारों के खराब होने पर सुधारते भी वही कारीगर थे।

खेत की मेंड़ पर उपजे पेड़ों की लकड़ी या जंगल से लाई गई लकड़ी से गाँव का कारीगर (बढ़ई) हल, बखर, नारी, बैलगाड़ी आदि बना देता था। उसमें जहाँ लोहा इस्तेमाल होता था, उसे गाँव का ही कारीगर (लुहार) लगा देता था। इन कामों का मेहनताना कारीगरों को फसल पर मिल जाता था। गाँव के ही कारीगर किसान के मकान बनाया करते थे। कुम्हार गाँव की जरूरतों को पूरा करने के लिये देसी खपरे, ईंटें, मिट्टी के बर्तन, घड़े, हांडी आदि मिट्टी से तैयार कर अबा (भट्टा) में पकाते थे। पक चुकी फसल की कटाई कब की जानी चाहिए, इसके बारे में किसानों के पास एक देशज ज्ञान था जो सदियों के अनुभव से मिला था, जिसे किसान अपनाते थे।

पकी हुई फसल को चन्द्रमा के उजले पखवाड़े अर्थात अमावस्या से पूर्णिमा के बीच काटने से उस अनाज में साल भर कीड़े नहीं लगते थे। भण्डारण सुरक्षित रहता था। कीटनाशक के नाम पर नीम की पत्तियाँ ही काफी थीं। इसके विपरीत अंधेरे पखवाड़े में कटी फसल के अनाज में कीड़े लग जाते थे। फसल जब पक जाती थी तो किसान उचित समय पर काटकर खलिहान में बैलगाड़ी से ढोकर लाता था।

बैलों की मदद से उसकी दावन करता था। उड़ावनी कर अनाज और भूसा अलग-अलग कर लेता था। हल, बखर, नारी, बैलगाड़ी एवं अन्य हर तरह के औजार गाँवों में ही विकसित अनुकूल टेक्नोलॉजी के आधार पर तैयार किये जाते थे। कुछ लोगों को बाँस के टोकना, बोइया, सूपा जैसे खेती के लिये उपयुक्त पात्र बनाने में महारत हासिल थी। यह टेक्नोलॉजी गाँव में ही आसानी से उपलब्ध थी, काफी सस्ती थी और गाँव के लिये मुफीद भी थी।

खलिहान में उड़ावनी से निकले अनाज का इकट्ठा बड़ा ढेर लगाया जाता था। उसके बाद यह जानने के लिये कि कुल उपज कितनी हुई है, किसान ढेर के अनाज की विधिवत पूजा करने के बाद उसकी नपाई करता था। नपाई के लिये निश्चित आयतन के बर्तन निर्धारित थे। तराजू से तौलना वजन पर आधारित है, वैसे ही नपाई आयतन पर आधारित थी। जैसे तौल की इकाई किलोग्राम है वैसे ही अनाज नापने की छोटी इकाई 'पाई' कहलाती थी।

खलिहान में लगी अनाज की ढेरी, जिसे 'रास' कहते थे उसकी नपाई पात्र 'सेई' से करता था। 'सेई' का पात्र पाई के आठ गुना आयतन के बराबर होता था। 12 सेई का एक बोरा (जूट का थैला) होता था। नापने की क्रिया को 'ढँगना' कहते थे। खलिहान में अनाज को तौलने की परम्परा नहीं थी। नपाई से कुल उत्पादित अनाज की मात्रा ज्ञात की जाती थी तथा वितरण भी नपाई से किया जाता था। नपाई करने (ढँगने) के बाद ही वह अनाज किसी को दिया जा सकता था या खलिहान से बाहर ले जाया जा सकता था। खेत में काम करने वाले खेतिहर मजदूरों को उनके हिस्से का अनाज नापकर दिया जाता था।

खलिहान से ही कारीगरों की सेवाओं के बदले में पूर्व में निर्धारित एक निश्चित मात्रा का

अनाज नाप कर दे दिया जाता था। न केवल कारीगर बल्कि गाँव के अन्य लोग जो किसान को सेवाएँ देते थे, जैसे बाल काटने वाले नाई, कपड़े धोने वाले आदि अन्यान्य सभी तरह की सेवाएँ देने वालों को भी उनकी सेवाओं के बदले में इसी तरह अनाज नापकर दिया जाता था। प्रायः सभी सेवादार 'रास ढँगने' (ढेर नापने) का काम हो जाने के बाद किसान से खलिहान से ही अपना हिस्सा नपवाकर ले जाते थे। झोली माँगने वालों को भी झोली (भिक्षा) मिलती थी।

गाँव में ही तेल निकालने के कोल्हू थे। गाँव में ही हाथ करघे से कपड़ा बनता था। इनके लिये तिलहन और कपास भी किसान उपजाता था। ये ग्रोमोद्योग की इकाइयाँ थीं जिनका कच्चा माल खेती का ही उत्पाद होता था। गाँव के वे लोग जो खेती नहीं करते थे वे इन इकाइयों का संचालन करते थे। किसान को इन इकाइयों से तेल और कपड़ा मिल जाता था। किसान के पशुधन बैलों से खेत में हल बखर खींचने और गाड़ी से ढोने, गायों से दूध मिलने का सिलसिला तो होता ही था, इसके अलावा चमड़े से बने सामान की जरूरत भी इन जानवरों के मरने पर उनके चमड़े से होती थी।

गाँव के ही कुछ लोग मरे ढोर का चमड़ा निकालकर जूते एवं अन्य सामान बनाया करते थे। किसान खेत में गन्ना लगाता था और गुड़ भी बना लेता था। भोजन के लिये मिर्च-मसाले भी खेतों में पैदा होते थे। नमक और मिट्टी का तेल छोड़कर बाकी सभी चीजों के उत्पादन में गाँव आत्मनिर्भर होते थे। इन्हीं चीजों की खरीद-फरोख्त कर व्यापारी व्यापार करते थे। इस तरह खेती की अर्थव्यवस्था के साथ गाँव की अर्थव्यवस्था चलती थी।

किसान की मजबूरियाँ और संकट

खेती का यह एक पहलू था जिसकी झलक यहाँ प्रस्तुत हुई है। लेकिन कई बातें किसान के अख्तियार में नहीं थीं। किसान का न तो प्रकृति पर कोई बस था और न ही हुकूमत पर। किसान की स्वायत्तता पर राजकीय व्यवस्था का पूरा दखल था। किसान स्वायत्तता दरकिनार करते हुए तत्कालीन हुकूमत यह भी हुक्म दे सकती थी कि किसान खेत में खुद की जरूरत की फसल भी नहीं बोए और उसकी जगह सिर्फ वह फसल बोए जिसका हुक्म सरकार दे। अंग्रेजी हुकूमत के द्वारा भारत में नील की खेती करवाना इसका एक उदाहरण है। जमींदार और उसके कारिन्दे राज्य के लिये किसान से सख्ती से लगान वसूल करते थे।

किसान ने यदि कभी साहूकार से कर्ज लिया और फसल पिट गई तो ब्याज समेत कर्ज पटाना बहुत मुश्किल हो जाता था। इज्जत बनाए रखने के लिये खेती को उत्तम मानने वाले किसान की प्रकृति से मार के कारण हालत खराब हो जाती थी और लगान या कर्ज न पटाने पर इज्जत पर भी आँच आती थी। विकास के बढ़ते क्रम में एक समय आया जब प्राकृतिक विपदाओं एवं व्यवस्था की प्रतिकूलताओं से उपजी परेशानियों को लगातार भोगने वाले किसानों को खेती घाटे का सौदा लगने लगी। इन कारणों से उत्तम खेती वाली कहावत की चमक फीकी पड़ने लगी।कई बार ऐसे प्रसंग आते थे कि प्राकृतिक प्रकोप के कारण फसल नष्ट हो जाती थी। जैसे लम्बे समय तक सूखा पड़ जाये या बाढ़ में फसल खराब हो जाये। ओले गिरें, पाला पड़े या आग लग जाये। इससे किसान भारी संकट में पड़ जाता था। लेकिन खजाने में लगान जमा करने का फरमान सख्त होता था, लगान चुकाना मजबूरी थी अन्यथा किसान को दण्ड का पात्र बनना पड़ता था। किसान ने यदि कभी साहूकार से कर्ज लिया और फसल पिट गई तो ब्याज समेत कर्ज पटाना बहुत मुश्किल हो जाता था। इज्जत बनाए रखने के लिये खेती को उत्तम मानने वाले किसान

की प्रकृति से मार के कारण हालत खराब हो जाती थी और लगान या कर्ज न पटाने पर इज्जत पर भी आँच आती थी।

विकास के बढ़ते क्रम में एक समय आया जब प्राकृतिक विपदाओं एवं व्यवस्था की प्रतिकूलताओं से उपजी परेशानियों को लगातार भोगने वाले किसानों को खेती घाटे का सौदा लगने लगी। इन कारणों से उत्तम खेती वाली कहावत की चमक फीकी पड़ने लगी। उपर्युक्त कहावत से हटकर बिल्कुल अलग तरह की बातें कही जाने लगीं। जैसे "खेती से नौकरी ही भली जिस पर न तो ओले गिरें और न आग लगे। न सूखे का कोई खतरा और न बाढ़ का डर। न लगान पटाने की फिकर और न साहूकार का डर।" क्योंकि ऐसे भी प्रसंग आये थे जब लगान नहीं चुका पाने वाले किसान कारिन्दों के डर या साहूकार की कुर्की के डर से खेत छोड़कर भाग गए।

मानसून की राजी-नाराजी के बीच खेती के तत्कालीन सफल तौर-तरीके

खेती के सामाजिक पक्ष से हटकर उसके तकनीकी पक्ष पर विचार करें। जहाँ तक खेती से उत्पादन का सवाल है वह सीधा प्रकृति की अनुकूलता या प्रतिकूलता से सदैव जुड़ा रहा है। मानसूनी हवाएँ वर्षा लाती हैं। भारत की जलवायु मानसूनी है। चार महीने पानी गिरता है और बाकी आठ महीने सूखे रहते हैं। ग्रेगोरियन कैलेण्डर के अनुसार बरसात के चार माह जून, जुलाई, अगस्त, सितम्बर होते हैं। मानसून प्रायः मध्य जून तक सक्रिय हो जाता है तथा मध्य अक्टूबर तक विदा होता है।

हिन्दी पंचांग के हिसाब से चार माह आषाढ़, सावन, भादों और क्वार माह होते हैं। ऐसा होना चाहिए, लेकिन हमेशा ऐसा नहीं होता। बरसात के चार महीनों में लगातार वर्षा नहीं

होती। बीच-बीच में रुकने के लम्बे अन्तराल आ जाते हैं। बरसात के मौसम में वर्षा रुकने की अवधि लम्बी हो जाती है। वर्षा रुकने के कारण जितने दिनों तक मौसम सूखा रहता है, उसे 'सूखा अन्तराल' कहते हैं। बरसात के दिनों में ही बाढ़ भी आ जाती है। इस तरह कभी सूखे का प्रकोप हो जाता है और कभी बाढ़ का किन्हीं-किन्हीं साल तो दोनों ही प्रकोप देखने में आते हैं।

कई बार मानसून जल्दी आ जाता है तो कभी जल्दी लौट भी जाता है। लगता है कि अनिश्चितता मानसून का स्वभाव है। भारत में परम्परागत खेती का विकास मानसून की इसी अनिश्चितता के बीच हुआ है। यह विकास लगभग पाँच हजार साल के अनुभव पर आधारित है। लोगों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी मानसून की बेरुखी के स्वभाव को पहचान लिया था तथा उसी अनुभव के आधार पर अलग-अलग इलाकों में मानसून की इस अनिश्चितता से तालमेल बनाकर खेती करना सीख लिया था। इस समझ के जरिए खेती के जो तौर तरीके अपनाए जाते थे, उनसे मौसम और मानसून की बेरुखी के बावजूद लोगों के हाथ में फसल आ जाती थी। उसी बेजोड़ समझ से परम्परागत खेती विकसित होती चली गई। वास्तव में उस काल में परम्परागत खेती लोगों के जीवन का हिस्सा बन गई थी।

यूरोप के स्वचालित मशीनों पर आधारित उद्योगीकरण विकसित होने के बाद भारत में भी उसी तर्ज पर उद्योगीकरण आया। नए-नए कल कारखाने लगे। उनमें लोगों को नए रोजगार के मौके मिलने शुरू हुए। उद्योगीकरण के पहले तो रोजगार के लिये खेती ही प्रमुख साधन थी। देश में मशीनों पर आधारित भारी उद्योगों अथवा मझोले और छोटे उद्योगों में लोगों को रोजगार अवश्य मिला।

पुराने कुटीर उद्योगों को आधुनिक मशीनीकरण और उद्योगीकरण ने कितना नुकसान

पहुँचाया और कितनों को बेरोजगार किया, यह यहाँ चर्चा की विषयवस्तु नहीं है। यह सही है कि नए उद्योगों को नए रोजगार खोले लेकिन जनसंख्या भी बढ़ती चली गई। इस कारण उद्योगों से उपजे नए रोजगार खेती पर दबाव कम नहीं कर सके। देश में अधिकतम लोगों की जीविका का आधार आज भी खेती है। बावजूद इसके कि अलग-अलग प्राकृतिक कारणों से खेती निरापद नहीं है, देश की बढ़ती जनसंख्या के दबाव को आज भी खेती ही झेल रही है।

मानसून की अनिश्चितता के कारण अक्सर देश के कुछ हिस्सों में सूखा पड़ता है और कुछ जगह बाढ़ आती है। किसी साल किसी हिस्से में दोनों विपदाएँ साथ-साथ आ जाती हैं। कभी-कभी सूखे का अन्तराल इतना लम्बा होता है कि बिना पानी के फसल सूखकर नष्ट हो जाती है और सूखा भीषण अकाल में तब्दील हो जाता है। यह अवश्य है कि देर सवेर पानी गिरता जरूर है। दूसरी तरफ ज्यादा और लगातार वर्षा भी संकट लाती है। भीषण बाढ़ के प्रकोप से पनियाँ अकाल पड़ जाता है।

खेत में खड़ी फसलों में ज्यादा पानी भरा रहने से पौधे गल जाते हैं, जिससे फसल नष्ट हो जाती है। यही पनियाँ अकाल कहलाता है। मौसम की पहले भी बेरुखी होती थी और अब भी होती है। लेकिन पहले की तुलना में मौसम ज्यादा बेईमान हो गया है। हालांकि इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती कि वर्षा होना ही बन्द हो जाये। इससे जीवन ही पूरी तरह नष्ट हो जाएगा। दूसरी तरफ इतना ज्यादा पानी गिरे कि सब तरफ पानी-ही-पानी हो जाए। ऐसी स्थिति को महाप्रलय कहा जाता है। हालांकि ये दोनों चरम सीमा पार करने की आशंकाएँ हैं। सूखा तथा बाढ़ दोनों समस्याएँ आती हैं। इसके अलग-अलग कारण हैं। इन कारणों को समझना जरूरी है, ताकि खेती में नुकसान से बचने के तरीके खोजे जाएँ।

मौसम में बेईमानी क्यों बढ़ रही है?

इंसान ने कुदरत के साथ छेड़खानी की है। आधुनिक सभ्यता में सुख-साधन जुटाने में कुदरत की भारी अनदेखी की गई है। भारी कल-कारखाने बना लिये हैं जो धुआँ उगल रहे हैं। पेड़ों को काटकर जंगलों का सफाया कर डाला है। प्राकृतिक जंगलों की जगह सीमेंट कांक्रीट के जंगल उगा लिये हैं। इन सीमेंट कांक्रीट के जंगलों में इंसान ने अपना आशियाना बना लिया है। चूँकि ये गरम होते हैं, इसलिये इन्हें ठंडा रखने के लिये एयर कंडीशनर मशीनें लगाई हैं जो आशियाने के अन्दर तो ठंडक पहुँचाती हैं पर बाहर गर्मी ढकेलती हैं। घरों घर फ्रिज पहुँच रहे हैं। ऐसी हर तरह की मशीनों के चलाने के लिये बिजली लगती है। बिजली बनाने वाले कारखानों की चिमनियाँ लगातार उगल रही हैं। स्प्रे आदि में इस्तेमाल होने वाली गैस 'क्लोरो-फ्लोरो कार्बन' कुदरत को नुकसान पहुँचा रही है।

धरती के ऊपर वायुमण्डल पर एक गैस ओजोन की परत है। यह एक कुदरती छतरी है जो सूरज से आने वाली घातक किरणों को रोकती है। इस छतरी में छेद हो रहे हैं। कल कारखानों से निकली जहरीली गैसें वायुमण्डल को ढँक रही हैं। मोटरगाड़ियों, दुपहिया और चौपहिया ऑटोमोबाइल वाहनों से सड़कें तो पट ही रही हैं, उनसे निकले पेट्रोल या डीजल के धुएँ से वायुमण्डल ढँक रहा है।

दुनिया भर में फैक्टरियों, वाहनों आदि से निकलने वाली गैस कार्बन डाइऑक्साइड की परत धरती को सब तरफ से ढँक लेती है। इस कारण सूरज से दिन में आने वाली किरणें धरती तक तो आ जाती हैं और धरती को गरम कर देती हैं। लेकिन धरती पूरी तरह ठंडी

नहीं हो पाती क्योंकि दिन में आई गर्मी जो पहले रात में वापस अन्तरिक्ष में लौट जाती थी, अब धुएँ की इस परत के कारण वापस नहीं लौट पाती। वृक्ष जो इस कार्बन डाइऑक्साइड को सोखकर ऑक्सीजन देते थे उनके तो जंगल-के-जंगल कट चुके हैं। इसका नतीजा है कि धरती गरम हो रही है। वायुमण्डल का तापमान बढ़ रहा है। इससे पहाड़ों पर जमी बर्फ पिघल रही है। ग्लेशियर पिघल रहे हैं। जो नदियाँ बर्फीले पहाड़ों से निकलती हैं, उनमें गर्मियों में बाढ़ आ रही है। इस वजह से मानसून की अनिश्चितता बढ़ रही है।

आषाढ़ माह में किसान खरीफ की फसलें बोता है, जो क्वार माह में कटती हैं। यदि वर्षा ठीक रही तो उत्पादन अच्छा हो जाता है। इसमें गड़बड़ी होने का मतलब है कि किसान की बर्बादी। कहा जाता है “आषाढ़ का चूका किसान और डाल का चूका बन्दर” दोनों ही बर्बाद होते हैं। यदि किसान आषाढ़ में समय पर बीज बो दे लेकिन मानसून ही धोखा दे जाये तब भी बर्बाद तो किसान ही होगा।

कई-कई दिन तक पानी नहीं गिरने से सूखे की स्थिति बन जाती है। तालाब, बाँध खाली रह जाते हैं। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आती है कि आषाढ़ में बोया गया बीज पानी के अभाव में ठीक से अंकुरित ही नहीं हो पाता। अंकुर सूख जाते हैं। बाद में पानी गिरे तो भी कोई फायदा नहीं होता। बरसात के दिनों में ही सूखे अन्तराल के कारण खेतों की नमी उड़ जाती है। खरीफ की फसल सूखने लगती है।मानसून अनिश्चित है जो कभी जल्दी आ जाता है तो कभी देरी से। कभी वापस भी जल्दी हो जाता है। जितना पानी चार महीने में गिरना चाहिए था, उतना कभी दो, तीन हफ्ते में ही गिर जाता है। कम समय में ज्यादा बारिश होने से पानी जमीन की सतह पर बहकर सीधा नदियों में चला जाता है, जमीन के अन्दर नहीं पैठता। इससे कुओं, ट्यूबवेलों का जलस्तर नहीं बढ़

पाता। बरसात के मौसम में जितने दिन पानी गिरना अपेक्षित होता है, मौसम की बेरुखी से उन दिनों में कमी आ रही है। कम दिनों में ज्यादा बारिश होने से नदियों में बाढ़ आती है। तटबन्ध तोड़कर दोनों किनारों पर पानी का फैलाव हो जाता है। नदियों पर बने बाँध उफनने लगते हैं और उनके फूटने का खतरा बढ़ जाता है। उन्हें बचाने के लिये बाँध के गेट खोलकर अतिरिक्त पानी बहाना पड़ता है। इससे निचले इलाकों में बरसात से आई हुई बाढ़ में बाँध का छोड़ा गया पानी और मिल जाता है तो तबाही का मंजर कई गुना बढ़ जाता है। खेतों में पानी भर जाता है और जल्दी नहीं निकलता। इसके अलावा तेज बहाव से भूमि का कटाव हो जाता है।

खरीफ की फसलें क्यों चौपट होती हैं?

ज्यादा समय खेत में पानी रुक जाने से खरीफ की फसलें गल जाती हैं। बाढ़ की चपेट में आये खेतों की फसल तथा उपजाऊ मिट्टी बह जाती है। ज्यादा पानी से खराब हुई फसल के कारण पनियाँ अकाल यानी पानी के कारण काल पड़ जाता है।

“का बरसा जब कृषि सुखाने,
समय चूकि पुनि का पछताने”

दूसरी तरफ मौसम की बेरुखी के कारण कभी बरसात के मौसम में औसत से कम पानी बरसता है। कई-कई दिन तक पानी नहीं गिरने से सूखे की स्थिति बन जाती है। तालाब, बाँध खाली रह जाते हैं। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आती है कि आषाढ़ में बोया गया बीज पानी के अभाव में ठीक से अंकुरित ही नहीं हो पाता। अंकुर सूख जाते हैं। बाद में पानी गिरे तो भी कोई फायदा नहीं होता।

बरसात के दिनों में ही सूखे अन्तराल के कारण खेतों की नमी उड़ जाती है। खरीफ की फसल सूखने लगती है। पानी नहीं गिरने से प्यासी फसल इतनी कमजोर हो जाती है कि किसान उस फसल के सम्भावित घटे उत्पादन से निराश होकर फसल को बखर कर खेत साफ करता है ताकि रबी फसल के लिये खेत की जुताई कर तैयार कर सके।

रबी की फसलें क्यों चौपट होती हैं?

रबी की फसल पर खतरे की शुरुआत उसकी बोवनी से प्रारम्भ हो जाती है। मिट्टी में नमी की कमी पहला खतरा है जो बरसात की जल्दी विदाई से जुड़ा है। क्वार के महीने में (मध्य सितम्बर से मध्य अक्टूबर) सूर्य की किरणें बहुत तेज होती हैं। ये खेत की नमी को बहुत तेजी से उड़ाती हैं।

यदि मानसून की विदाई निर्धारित समय पर होती है तो खेत में नमी कायम रहती है जिस पर रबी फसल का भविष्य टिका होता है। यदि चार माह में मानसून का व्यवहार सामान्य रहता है और तद्नुसार वर्षा होती रहती है तो मानसून के विदा होने के बाद वायुमण्डल में आर्द्रता व्याप्त रहती है, जो ठंड पड़ने पर ओस के रूप में रबी फसलों पर गिरती है। दिसम्बर माह में मावठा गिरने की सम्भावना बनी रहती है।

परम्परागत खेती में लम्बे अनुभव के बाद लोगों ने ऐसे बीज तैयार कर लिये थे, जिनसे बरसात के बाद जमीन की नमी, ओस तथा मावठे से मिले पानी से बिना अतिरिक्त सिंचाई के वांछित फसलें तैयार हो जाती थीं। मानसून के जल्दी चले जाने पर यह सारा चक्र गड़बड़ा जाता है। जहाँ सिंचाई के लिये सामान्य तौर पर पानी उपलब्ध होना चाहिए,

वह भी मानसून की बेरुखी के चलते नदारद हो जाता है। इससे सिंचाई वाले क्षेत्रों को पर्याप्त पानी नहीं मिल पाता। पानी का अभाव फसल उत्पादन को प्रभावित करता है।

रबी के मौसम में अन्य प्राकृतिक कारण भी खतरा बनते हैं जैसे अधिक ठंड के दौरान पाला पड़ना। पाला पड़ने से मात्र एक रात में खेत में खड़ी समूची फसल नष्ट हो सकती है। ओला गिरने से भी फसल नष्ट हो जाती है। कभी फरवरी के उत्तरार्द्ध से लेकर मार्च माह में तेज अन्धड़ के साथ पानी गिरता है। यह वह समय होता है जब फसल में दाना पड़ रहा होता है या फसल पक रही होती है या पककर कटाई की कगार पर पहुँच रही होती है।

इस दौरान आँधी और पानी फसल को गिराकर खेत में लगभग बिछा देते हैं। आँधी से समूचे खेत की फसल गिरने के अलग-अलग चकत्ते बन जाते हैं। फसल के गिरे हुए पौधे फिर नहीं उठ पाते। जितने पौधे गिरते हैं उतना उत्पादन कम हो जाता है। उपर्युक्त प्राकृतिक कारण रबी फसल को बर्बाद करते हैं। कभी-कभार एक और आफत आती रही है, वह है टिड्डी दल का हमला। कभी प्रवास पर आये ये टिड्डी दल जिस इलाके के खेतों की फसलों पर बैठ जाते थे तो एक रात में फसल चटकर जाते थे।

खेती का अंग्रेजी हुकूमत से रिश्ता

देश में अंग्रेजी शासन के दौरान खेती के प्रति दुर्लक्ष्य रहा। अंग्रेजों को तो किसानों से राजस्व चाहिए होता था। अंग्रेजों के लिये भारत की खेती मात्र राजस्व उगाहने की स्रोत थी, सिर्फ आर्थिक गतिविधि थी, न कि किसानों के जीवन का हिस्सा। राजस्व वसूली के लिये अंग्रेजों ने अधिकारों से लैस अधिकारियों की तैनाती की थी। जिले में आईसीएस

अधिकारी का प्रमुख काम राजस्व कर वसूल करना था। राजस्व वसूली करने वाला अधिकारी जिला कलेक्टर के रूप में पदस्थ होता था। अन्य प्रशासनिक काम भी उसे देखना होता था।

आमतौर पर अंग्रेज अधिकारी के मन में भारतीयों के प्रति घृणा या उपेक्षा का भाव रहता था। अंग्रेजों के हाथ में दमन का हथियार था। उनमें जब इंसानों के प्रति संवेदनाएँ नहीं थीं, तब खेती के प्रति कैसे रहती। अपनी शान शौकत के लिये उन्होंने किसानों से जोर जबरदस्ती कर नील की खेती करवाई। लगान वसूली के लिये जबरदस्त सख्ती भी उसी दौरान हुई। किसान के अनाज का मूल्य बहुत कम होता था और लगान अनाज के रूप में न होकर तत्कालीन मुद्रा के हिसाब से वसूला जाता था।

कई बार लगान की राशि खेती की पैदावार में निकले अनाज के मूल्य से ज्यादा होती थी। ऐसा नहीं है कि हमेशा ही खेती में घाटा होता था। उपनिवेशकाल में खेती बहुत बुरे दौर से गुजरी। अंग्रेजों ने जो तर्कहीन और कठोर कानून बनाए थे, वे खेती विरोधी और किसान विरोधी थे। उनके द्वारा लिया जाने वाला लगान तो वास्तव में लूट थी। 97 प्रतिशत तक का लगान चुकाकर कोई कैसे जिन्दा रह सकता था। प्राकृतिक विपदा के दौरान अंग्रेज सरकार से मदद का तो कोई सवाल ही नहीं था। मदद के नाम पर आनावारी का जो नियम था वह किसानों को मदद करने के बजाय रोकने का औजार बनता था। इसलिये कई जगह किसानों को खेत छोड़कर भागना पड़ा। उपनिवेशकाल में दमन के उस दौर की तो आज कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आजादी के बाद

आजादी के बाद खेती के प्रति सरकार का नजरिया बदला। देश की प्रगति में खेती की भूमिका को सरकार ने वरीयता दी। आजादी के बाद भारत की छवि एक ऐसे देश की बन गई थी जो देशवासियों का पेट भरने के लिये कटोरा लेकर विदेशों से अनाज माँगता था। दो बार के पड़े अकाल के कारण भारत को अनाज की भारी आवश्यकता थी। अमेरिका द्वारा वहाँ के कानून 'पीएल 480' (पब्लिक ला 480) के तहत भारत सरकार को 'लाल गेहूँ' प्रदाय करने का इतिहास प्रायः सबको पता होगा। यह गेहूँ मुफ्त में नहीं मिला था।

भारत सरकार ने अमेरिका द्वारा प्रदाय किये गए लाल गेहूँ की राशि का बाकायदा भुगतान किया। गेहूँ पाने के लिये जिस तरह समझौता हुआ वह भारत के लिये सम्मानजनक नहीं था। हनोई और वियतनाम में उस समय अमेरिका ने बमबारी की थी। भारत ने उस हमले के विरोध में टिप्पणी की थी तो अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति ने भारत से सख्त ऐतराज जताया था।

जब अमेरिका का ध्यान दिलाया गया कि वेटिकन सिटी के पोप तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने भी बमबारी का विरोध किया है, तो अमेरिकी जवाब था कि वे (पोप और संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव) हमारा गेहूँ नहीं खाते। भारत अपमान का घूँट पीकर रह गया था। मजबूरी यह थी कि उस समय भारत के पास विदेशी मुद्रा नहीं थी। अमेरिका की मेहरबानी यह थी कि उसने इसका भुगतान डालर के बजाय भारतीय मुद्रा रुपए में लिया। वह राशि अमेरिका ने भारत में ही एक फंड बनाकर रखी तथा उसका उपयोग भारत में खेती के क्षेत्र में अमेरिकी हितों को आगे बढ़ाने में किया गया।

भारत सरकार अपनी यह कटोरा लेकर माँगने वाली छवि तोड़कर आत्मनिर्भर राष्ट्र की छवि बनाना चाहती थी। इसलिये खेती के हर मोर्चे पर काम शुरू किया गया। बाढ़ और

सूखा दोनों से निपटने के लिये सरकार पहल करती रही है। आँकड़े बताते हैं कि आजादी से लेकर अब तक सूखे के असर को कम करने के लिये पानी पर लगभग 3.5 लाख करोड़ रुपए की राशि व्यय की गई है।

मनरेगा के अन्तर्गत कुल 123 लाख जल संरक्षण संरचनाएँ बनाई गई हैं। बाढ़ प्रबन्ध पर भी बड़ी धनराशि खर्च हुई है। सरकार ने अपनी तरफ से भरसक प्रयास किये हैं। किसानों को राहत पैकेज दिये गए हैं, अनुदान दिये गए हैं। इसके बावजूद संकट आते रहे हैं। हाल ही में सन 2015-16 में देश के 678 जिलों में से 254 जिलों के 2,55,000 गाँवों में सूखा था। दूसरी तरफ बाढ़ का रकबा भी बढ़ रहा है। उल्लेखनीय है कि मौसम की बेरुखी तो हमेशा रही है। असली समस्या आज खेती करने के तरीकों में कुदरत के साथ तालमेल के अभाव की है।

हरित क्रान्ति (प्रथम चरण)

हरित क्रान्ति से देश का हर किसान वाकिफ है। अमेरिका ने दुनिया के कई देशों को हरित क्रान्ति का पाठ पढ़ाना शुरू कर दिया था। साठ के दशक में अमेरिका के बहुत बड़े उद्योगपति हेनरी फोर्ड (फोर्ड मोटर कम्पनी के मालिक) के फोर्ड फाउंडेशन तथा स्टैण्डर्ड ऑयल के राकफेलर फाउंडेशन के संयुक्त उपक्रम ने दुनिया में खेती को परम्परागत साधनों से हटाकर खनिज रसायन, खनिज तेल एवं ऊर्जा पर निर्भर बनाया, जिसे 'ग्रीन रिवोल्यूशन' यानी 'हरित क्रान्ति' का नाम दिया गया।

हरित क्रान्ति का सारा ताम-झाम भारी खर्चीला था जिसे अपनाना किसान के बूते के बाहर था, इसलिये उसे कर्ज देने के लिये अलग इन्तजाम किया गया था। यह भी हरित

क्रान्ति के प्रसार का अंग था। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि विकास बैंकों की स्थापना की गई ताकि किसान कर्ज के बूते ये सारा सामान हासिल कर खेत पहुँचा सके। पूसा स्थित भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान हरित क्रान्ति का मॉडल बना। वहाँ के सफल प्रयोग और संकर बीज तैयार होने के बाद इसे खेतों तक पहुँचाया गया। मैदानी प्रयोग के लिये जल समृद्ध इलाकों को चुना गया।सन 1965, 66 तथा 67 में जब अमेरिका से पीएल 480 के तहत गेहूँ और चावल आयात किया जा रहा था, उसी समय खाद्यान्न पैदा करने में आत्मनिर्भर होने के लिये देश ने अमेरिका के सहयोग और उसकी शर्तों पर खेती में विकास के नए मॉडल 'हरित क्रान्ति' को स्वीकार किया। इस नाम से विपुल अन्न उत्पादन की योजना पर काम शुरू हुआ। भारतीयों की हरित क्रान्ति की शिक्षा और प्रशिक्षण का जिम्मा भी अमेरिका ने उठाया। इसके साथ ही यह तय हो गया कि भारतीय कृषि की क्या दिशा होगी।

भारत सरकार के आमंत्रण पर अमेरिका के कृषि वैज्ञानिक डॉ. नारमन बोरलाग, जिन्हें दुनिया में हरित क्रान्ति का जनक माना जाता है, भारत आये और उन्होंने हरित क्रान्ति की तकनीक, शिक्षा, प्रशिक्षण तथा प्रसार के लिये मार्गदर्शन दिया। डॉ. एम.एस. स्वामीनाथन ने डॉ. बोरलाग के निर्देशन में भारत में हरित क्रान्ति की कमान सम्भाली। सन 1966-67 में दिल्ली के पास भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान (आईएआरआई) पूसा में इसकी तैयारी हो रही थी।

पंजाब में पहला कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। बाद में अन्य प्रदेशों में भी विश्वविद्यालय और संस्थान स्थापित किये गए। हरित क्रान्ति का मुख्य घटक था प्रयोगशाला में तैयार उन्नत (हाइब्रिड) संकर बीज। मेक्सिको के गेहूँ के बीज के साथ पंजाब के गेहूँ के बीज को मिलाकर एक नया हाइब्रिड बीज तैयार किया गया था। दूसरे

घटक थे पेट्रोलियम पदार्थों से बनने वाले रासायनिक खाद, सिंचाई के लिये पर्याप्त पानी, रासायनिक कीटनाशक दवाइयाँ, खेत की गहरी जुताई के लिये ट्रैक्टर, सिंचाई के लिये डीजल इंजन पम्पसेट, पाइप, स्प्रिंकलर, फसल कटाई एवं दाना निकालने के लिये रीपर और थ्रेशर या हार्वेस्टर कम्बाईन तथा इन स्वचालित मशीनों को चलाने के लिये डीजल, पेट्रोल जैसे ईंधन और बिजली।

हरित क्रान्ति का सारा ताम-झाम भारी खर्चीला था जिसे अपनाना किसान के बूते के बाहर था, इसलिये उसे कर्ज देने के लिये अलग इन्तजाम किया गया था। यह भी हरित क्रान्ति के प्रसार का अंग था। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि विकास बैंकों की स्थापना की गई ताकि किसान कर्ज के बूते ये सारा सामान हासिल कर खेत पहुँचा सके। पूसा स्थित भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान हरित क्रान्ति का मॉडल बना। वहाँ के सफल प्रयोग और संकर बीज तैयार होने के बाद इसे खेतों तक पहुँचाया गया। मैदानी प्रयोग के लिये जल समृद्ध इलाकों को चुना गया। इसकी शुरुआत पंजाब से हुई और धीरे-धीरे पूरे देश में फैला दी गई।

जिन किसानों ने परम्परागत खेती छोड़कर हरित क्रान्ति की आधुनिक खेती अपनाई थी, उन्हें प्रगतिशील किसान के तमगे से नवाजा गया। अर्थात परम्परागत खेती वाले किसान दकियानूसी तथा हरित क्रान्ति वाले किसान प्रगतिशील माने जाने लगे। इस तरह किसानों को मनोवैज्ञानिक तौर से हरित क्रान्ति अपनाने के लिये तैयार किया गया।

हरित क्रान्ति को खेतों तक पहुँचाने के लिये रासायनिक खाद, संकर बीज, मशीनें, खेती के औजार से लेकर जो भी बड़ी-से-बड़ी या छोटी-से-छोटी सामग्री निर्धारित हुई थी, उसे कारखानों में तैयार करने और किसानों को उपलब्ध कराने के लिये हर स्तर पर भारी

तैयारियाँ की गईं। राकफेलर फाउंडेशन और फोर्ड फाउंडेशन को मुनाफा कमाने के लिये भारत में एक बहुत बड़ा बाजार मिल गया। रासायनिक खाद तथा कीटनाशकों के मूल घटक विदेशों से आयात किये गए, उन्हें तैयार करने के लिये भारत में कारखाने लगाए गए।

भोपाल का कीटनाशक बनाने का कारखाना 'यूनियन कार्बाइड' ऐसा ही कारखाना था जिसकी दुर्घटना भारत तो क्या सारी दुनिया नहीं भूल पाएगी। डीजल इंजन पम्पसेट, विद्युत मोटर पम्पसेट, ट्रैक्टर, ट्राली, कल्टीवेटर, प्लाऊ, सीडड्रिल, फव्वारा सिंचाई और टपक सिंचाई के यंत्र तथा अन्य उपयोग में आने वाले कृषि यंत्रों तथा सामग्री बनाने के कारखाने लगे। उद्योग जगत का ध्यान कृषि क्षेत्र के लिये आवश्यक मशीनें और अन्य सामग्री के उत्पादन पर केन्द्रित हो गया। सिंचाई के लिये सरकार ने बाँध और नहरें बनाईं। सतही जल से सिंचाई में नदी और तालाबों, जलाशयों का उपयोग हुआ। जमीन के भीतर के पानी से सिंचाई के लिये कुओं पर पम्पसेट बिठाए गए।

जब कुएँ असफल होने लगे तो गहरे ट्यूबवेल खोदे गए जिनमें सबमर्सिबल पम्पसेट बिठाए गए। पाइपों के जरिए खेत के कोने-कोने तक पानी पहुँचाकर सिंचाई का इन्तजाम किया गया। निर्माता कम्पनियों से सामग्री लेकर किसानों तक पहुँचाने के लिये देशभर में जगह-जगह सहकारी समितियाँ तथा प्राइवेट एजेंसियाँ सक्रिय हो गईं। इन दोनों स्तर पर अच्छा खासा पूँजी निवेश हुआ। सरकार ने किसानों को सीधे तौर पर मदद करने के लिये अनुदान, कर्ज, राहत, कुओं और नलकूपों के लिये सब्सिडी, कृषि यंत्रों पर सब्सिडी जारी की। कृषि विज्ञान केन्द्रों तथा कृषि विभाग से एक्सटेंशन यानी कृषि विस्तार सेवा उपलब्ध कराई। किसानों को हरित क्रान्ति बनाम आधुनिक खेती के लिये प्रेरित किया। इसके तत्काल प्रभावशाली असर दिखे।

हरित क्रान्ति : प्रारम्भिक वर्षों में असर

हरित क्रान्ति ने सबसे पहला काम तो यह किया कि भारत की परम्परागत खेती को जड़ से उखाड़ दिया तथा बैलों को खेत से खदेड़ दिया। खेती से बेकार हुए बैलों को बूचड़खाने का रास्ता दिखाया जाने लगा। हजारों साल पुराने बीजों पर तो खेतों में घुसने पर जैसे कर्फ्यू लगा दिया हो। कृषि में अनुसन्धान करने वाले संस्थानों पर भी प्रतिबन्ध लग गया कि हरित क्रान्ति के घटक उपलब्ध कराए गए संकर बीज के अलावा अन्य कोई बीज का अनुसन्धान करने पर संस्थान को शोध के लिये पैसा (ग्रान्ट) नहीं दिया जाएगा। उसी दबाव ने छोटे-छोटे गाँव तक में बड़े बाजार का प्रवेश करा दिया। कि

सान को उनकी पारम्परिक सीख 'कर्ज भला न बाप का' हरित क्रान्ति ने भुला दी। किसानों ने बैंकों के पास अपनी जमीनें रहन रखकर आसानी से कर्ज लेना शुरू कर दिया। इस कर्ज की बदौलत किसान के पास नई खेती में लगने वाली भारी लागत का इन्तजाम हो गया।

व्यापारियों, सहकारी समितियों और सरकारी एजेंसियों ने बाजार में संकर बीज, रासायनिक खाद, दवाइयाँ, मशीनें, डीजल, पेट्रोल, कम्पनियों के महँगे-महँगे नए औजार आदि सहज उपलब्ध करा दिये जिससे किसान के लिये आधुनिक उन्नत खेती की व्यवस्थाएँ जुटाई जा सकीं। मशीनों ने काम हल्का कर दिया। बैलों का स्थान ट्रैक्टर ने ले लिया। कम मेहनत में ज्यादा काम होने लगा। काम जल्दी निपटने लगा। बखरनी, पस्टारनी और बोवनी आसान हो गई। हरित क्रान्ति ने प्रारम्भिक दौर में एकदम चमत्कार दिखाना शुरू किया।

रासायनिक खाद और सिंचाई से खेत के चारों कोनों में फसलें लहलहा उठीं। खेत अनाज उगलने लगे। प्रारम्भिक सालों में विपुल उत्पादन होता रहा। गोदाम अनाज से भर गए। देश की जरूरत का अनाज किसानों ने पैदा कर लिया। आयात की निर्भरता समाप्त हो गई। कृषि उपज मंडियों में आवकें बढ़ गईं। किसान के पास अच्छा पैसा आने लगा। किसानों की सामान खरीदने की ताकत बढ़ गई।

बाजार में अच्छी क्रय शक्ति वाले ग्राहकों की उपस्थिति दर्ज होने से बाजार चमकने लगे और दुकानदारों के व्यापार में इजाफा हुआ। उस दौर में किसानों के पास मनोरंजन के साधन के रूप में रेडियो, ट्रांजिस्टर सेट गाँवों में पहुँच गए तथा बाद में टीवी सेटों के एंटीना घरों के छप्पर पर खड़े हो गए। गाँवों में छिटपुट पक्के मकानों का बनना भी शुरू हो गया। मोटर साइकिलें, स्कूटर और जीप आदि भी किसानों के पास हो गए। गाँवों में बिजली पहुँचने लगी। उपभोग के टिकाऊ सामानों (कंज्यूमर ड्यूरेबल्स) के बाजार को गाँवों में अच्छी ग्राहकी मिल गई। किसान के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होने लगा तथा उसके जीवन में सम्पन्नता दिखने लगी।

गाँवों में बड़ी जोत वाले किसानों के खपरैल वाले बड़े मकान बदल गए और उनकी जगह आधुनिक शहरी डिजाइन के सीमेंट कांक्रीट के सुविधाओं से सज्जित अच्छे भवन बन गए। बच्चों को महँगे स्कूलों से कॉलेजों में दाखिल कराने की आर्थिक क्षमता बढ़ गई। मशीनी खेती करने से किसानों की आदतें बदलने लगीं। किसानों की हालत बदलने लगी जैसे हरित क्रान्ति ने किसानों के लिये खेतों में टकसाल खोल दी है। अलग-अलग तरह के संकर बीजों वाली खेती का कमाल दिखने लगा। लेकिन वे परम्परागत बीज जिनमें रोगों से लड़ने की ताकत थी, मौसम के उतार-चढ़ाव को खेलने की ताकत थी, वे

गुमनामी में खोकर नष्ट हो गए। गौ-वंश बेघर हो गया।

जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय जबलपुर से सम्बद्ध कृषि प्रयोग प्रक्षेत्र पवारखेड़ा, जिला होशंगाबाद में गेहूँ की ऐसी किस्म विकसित की जा रही थी, जो कम खाद एवं कम पानी में अच्छा उत्पादन देती थी। चूँकि जबलपुर, नरसिंहपुर और होशंगाबाद जिले में नर्मदा नदी बहती है तथा उसे धार्मिक दृष्टि से पूजनीय माना जाता है, इसलिये शोध किये जाने वाले बीजों को नर्मदा सीरीज का नाम दिया गया। इसमें 'नर्मदा-4' नाम के बीजों को किसानों ने गर्मजोशी से स्वीकार किया। पहले तो ग्रान्ट देने वालों ने गौर नहीं किया। लेकिन जब 'नर्मदा-4' की लोकप्रियता बढ़ी और अखबारों में सुर्खियाँ बनने लगी तो पवारखेड़ा के कृषि वैज्ञानिक को नर्मदा सीरीज के शोध बन्द करने के आदेश दिये गए। आदेश में ग्रान्ट बन्द करने की चेतावनी थी। उसकी जगह लोक-1 (लोकवन) के बीज के प्रसार के आदेश थे। इसके बाद ही नर्मदा-4 और नर्मदा सीरीज पर काम बन्द करना पड़ा। यह एक नमूना था कि कैसे अमेरिकी पूँजी भारत में खेती की शिक्षा एवं अनुसन्धान पर नियंत्रण कर रही थी।

सोयाबीन की खेती

इसी बीच विदेशी मूल के सोयाबीन बीज का भी भारत में प्रवेश हुआ। यह द्विदलीय बीज था जो वास्तव में तिलहन था। लेकिन इसे सीधे कोल्हू में पेरकर तेल नहीं निकाल सकते थे। सोयाबीन से तेल निकालने की प्रक्रिया और टेक्नोलॉजी जटिल और महँगी थी जो ग्रामोद्योग में सम्भव नहीं थी। सोयाबीन तेल निकालने वाले बड़े कारखानों में विशेष क्रिया तथा एक रसायन की मदद से कच्चा तेल निकाला जाता था, जिसे अलग संयंत्र में साफ किया जाता था। उसके बाद ही वह खाने के काम आता था। उसकी खली का

निर्यात होता था। सोयाबीन की खेती शुरू में किसानों में बहुत लोकप्रिय हुई क्योंकि परम्परागत फसलों की तुलना में इसके अच्छे दाम मिलते थे।

एक कहावत शुरू हो गई थी 'सोया बीन यानी सोना बीन' (सोयाबीन का मतलब सोना बीनना)। उद्योग जगत ने बड़ी पूँजी लगाकर जगह-जगह सोयाबीन से तेल निकालने की फैक्टरियाँ खड़ी कर दीं। उल्लेखनीय है कि भारतीय मूल के तिलहन जैसे मूँगफली या सींगदाना, तिल, सरसों, बिनौला आदि का तेल निकालने के लिये उद्योग गाँव में ही थे। गाँव के कोल्हू में उपर्युक्त तिलहन पेरकर आसानी से खाने का तेल निकाला जाता था। इनकी खली का उपयोग यहीं के मवेशियों को खिलाने में होता था। दुधारू पशुओं के आहार में खली मिलाने से दूध बढ़ जाता था। सोयाबीन की खेती से यह क्रम टूट गया।

हरित क्रान्ति के कुछ वर्ष बाद के असर जमीन, पानी, हवा में जहर - जमीन नसेड़ी बनी

हरित क्रान्ति के सूत्रपात के साथ भारत के खेतों की मिट्टी ने रासायनिक खादों का स्वाद चखना शुरू किया था, जिसकी शुरुआत पंजाब से हुई थी। 30 साल पूरे होते-होते इसके दुष्परिणाम सामने आने लगे। रासायनिक खादों के लगातार खेतों में डालने से मिट्टी का कुदरती उपजाऊपन नष्ट होने लगा। मिट्टी का लोच खत्म होने लगा और वह कड़ी होने लगी। पानी और नमी सहेजने की उसकी कुदरती तासीर बिगड़ गई। हर आने वाले साल की पैदावार पिछले साल की तुलना में गिरने लगी। पहले जैसी पैदावार के लिये जमीन में ज्यादा रासायनिक खाद की दरकार होने लगी। हर साल नई फसल के लिये खाद की मात्रा बढ़ती चली गई।

आधुनिक खेती में इस्तेमाल किये जाने वाले रासायनिक खादों की वजह से मिट्टी और

भूजल में घातक फ्लोराइड की मात्रा बढ़ रही है। नाइट्रोजन युक्त रासायनिक खादों के उपयोग से एक रसायन नाइट्रस ऑक्साइड बनता है। धरती का बुखार बढ़ाने में इसका भी योगदान है। वैश्विक तापमान बढ़ाने में कार्बन डाइऑक्साइड की तुलना में नाइट्रस ऑक्साइड 100 गुना ज्यादा हानिकारक है। वह पानी और मिट्टी में बना रहता है एवं लम्बे समय तक नष्ट नहीं होता तथा खराब असर डालता है।बिना रासायनिक खाद के जमीन की खुद की अपनी पैदावार की ताकत खत्म हो गई। जैसे किसी आदमी को नशे की लत लग जाये, तो नशा उतरने पर उसका शरीर साथ नहीं देता। उसकी स्वाभाविक ताकत मन्द पड़ जाती है। ऐसा ही कुछ हाल अब जमीन का हो गया है। शायद वह भी नसेड़ी हो गई है जो रासायनिक खाद के बिना अनाज पैदा नहीं कर पाती। रासायनिक खादों के तत्व पौधों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, लेकिन काफी हिस्सा जमीन में रह जाता है। एक किलो सुपर फास्फेट में रसायन फ्लोराइड की मात्रा 10 मिलीग्राम तथा एक किलो एन.पी.के. में 1675 मिलीग्राम होती है।

आधुनिक खेती में इस्तेमाल किये जाने वाले रासायनिक खादों की वजह से मिट्टी और भूजल में घातक फ्लोराइड की मात्रा बढ़ रही है। नाइट्रोजन युक्त रासायनिक खादों के उपयोग से एक रसायन नाइट्रस ऑक्साइड बनता है। धरती का बुखार बढ़ाने में इसका भी योगदान है। वैश्विक तापमान बढ़ाने में कार्बन डाइऑक्साइड की तुलना में नाइट्रस ऑक्साइड 100 गुना ज्यादा हानिकारक है। वह पानी और मिट्टी में बना रहता है एवं लम्बे समय तक नष्ट नहीं होता तथा खराब असर डालता है।

रासायनिक खादों के आधार पर की जा रही आधुनिक खेती ने मिट्टी की सकल गुणवत्ता को खराब किया है। यद्यपि हरित क्रान्ति आने के पहले भी भारत की खेती में रासायनिक खाद का इस्तेमाल चालू कराने के लिये कुछ तिजारती लोग प्रयास कर रहे

थे। लेकिन आजादी के बाद हरित क्रान्ति को सरकारी समर्थन मिला, जिससे रासायनिक खाद और रासायनिक कीटनाशकों के इस्तेमाल का रास्ता साफ हुआ। उत्पादन के तात्कालिक चमत्कारी परिणामों का ध्यान तो रखा गया, लेकिन दूरगामी दुष्परिणामों और खतरों के बारे में नहीं सोचा गया। पंजाब, जहाँ हरित क्रान्ति ने सबसे पहले दस्तक दी थी, उत्पादन में देश में सिरमौर हो गया था, आज मुसीबत में फँस गया है। जमीन कड़ी हो गई है और पैदावार घट गई है। इस कारण पंजाब के कई किसान मध्य प्रदेश में आकर जमीनें खरीदकर खेती कर रहे हैं।

महात्मा गाँधी ने रासायनिक खाद के इस्तेमाल से होने वाले खतरों के प्रति चेताया था। उन्होंने हरिजन के 19 मई 1946 के अंक में खेती में रासायनिक खाद के उपयोग पर चेतावनी देते हुए एक लेख लिखा था, जिसके कुछ अंश यहाँ दिए जा रहे हैं। “आजकल जमीन का उपजाऊपन अधिक बढ़ाने की लम्बी-लम्बी बातों के नाम पर खेती में रासायनिक खाद दाखिल करने के बड़े प्रयत्न चल रहे हैं। दुनिया भर में इस तरह के रासायनिक खादों का जो अनुभव हुआ है, उससे यह साफ चेतावनी मिलती है कि हमें इन खादों को अपनी खेती में नहीं घुसने देना चाहिए। इन खादों से जमीन का उपजाऊपन किसी भी प्रकार नहीं बढ़ता। अफीम या शराब जैसी चीजें जिस प्रकार आदमी को नशे में झूठी शक्ति का आभास कराती हैं, उसी प्रकार ये सब खाद जमीन को उत्तेजित करके थोड़े समय के लिये काफी फसल पैदा कर देते हैं, लेकिन अन्त में जमीन का सारा रस-कस चूस लेते हैं। खेती के लिये अत्यन्त जरूरी माने जाने वाले जीव जन्तुओं का, जो जमीन में रहते हैं, ये खाद नाश कर देते हैं। ये रासायनिक खाद कुल मिलाकर लम्बे समय के बाद खेती को नुकसान पहुँचाने वाले ही साबित हुए हैं। रासायनिक खादों के बारे में जो बड़ी-बड़ी बातें कही जाती हैं, उनके पीछे उन खादों के कारखानों के मालिकों की अपने माल की बिक्री बढ़ाने की चिन्ता के सिवा और कोई बात नहीं है और जमीन को

उनसे लाभ होता है या हानि, इस बात से वे एकदम लापरवाह होते हैं।"

कीटनाशकों से किसानों का पहला परिचय, हेलीकाप्टर से छिड़काव के भी प्रयोग हुए

हरित क्रान्ति का आधार जो संकर बीज थे उनमें रोगों से लड़ने की ताकत नहीं थी। फसलों पर इल्लियों, कीटों का हमला होता था, अन्य रोग लगते थे। उनसे निपटने के लिये कीटनाशक जहरीली दवाइयों को फसलों पर छिड़का जाना भी हरित क्रान्ति का अंग था। किसानों को इनके बारे में कुछ पता ही नहीं था। सन 1970 के आस-पास जब होशंगाबाद जिले में हरित क्रान्ति ने प्रवेश किया था, उस समय पहली बार किसानों ने संकर बीज बोया और फसलों पर इल्लियों का जबरदस्त हमला देखा। फसलों पर कीटों के प्रकोप से किसान हक्के-बक्के थे। फसलें बचाने के लिये कीटनाशक दवाएँ छिड़का जाना था। किसान को न तो इसकी कोई जानकारी थी, न ही मानसिकता थी और न ही कोई तैयारी।

सरकार ने कम्पनियों की मदद से हेलीकाप्टर से खेतों पर कीटनाशकों का छिड़काव करवाया। हेलीकाप्टर से दवाई छिड़कने का तमाशा देखने बड़ी संख्या में ग्रामवासी खेतों के पास जमा होते थे। लेकिन यह छिड़काव मुफ्त में नहीं हुआ था। किसानों के प्रति हेक्टेयर छिड़काव के दाम भी वसूले गए। इस तरह इस क्षेत्र के किसानों का रासायनिक कीटनाशकों से यह पहला परिचय था। किसी को यह समझ ही नहीं थी कि आसमान से इस तरह जहर की वर्षा करने से जो जहर हवा, पानी और जमीन में जाएगा उसके आम आदमी के स्वास्थ्य पर किस तरह के असर होंगे। किसान के सामने तो उस समय किसी भी तरह कीड़ों से फसल बचाने का एकमात्र उद्देश्य था। यह एक नमूना है कि दूरगामी नतीजों की परवाह किये बिना सरकार हर हालत में हरित क्रान्ति को सफल बनाने का

प्रयास कर रही थी।

रासायनिक कीटनाशक खतरा बने

भोपाल में अमेरिकी कम्पनी 'यूनियन कार्बाइड' ने भारी पूँजी लगाकर इल्लीमार दवाइयाँ बनाने के लिये ही कारखाना लगाया गया था। उन्हें पता था कि हरित क्रान्ति में इस्तेमाल होने वाले संकर बीज वाली फसलों में रोगों का हमला होगा और ये रोग और इल्लियाँ कमाई का साधन बनेंगे। किसानों को कीटनाशक दवाइयाँ बेचकर मोटा मुनाफा कमाने के लिये कई कम्पनियों ने कीटनाशक दवाइयाँ बनाने के कारखाने खोले।। खेतों में खड़ी फसलों पर इन दवाइयों के छिड़काव से इल्लियाँ तो मर जाती थीं लेकिन वे जहरीली दवाइयाँ पौधों पर से होते हुए नीचे जमीन की सतह तक पहुँचती थीं। पानी में घुलकर कुछ बह जाती थीं, कुछ पानी के साथ रिसकर जमीन में पैठती थीं।

इस बात का उस समय विचार नहीं किया गया कि उनके प्रकृति, पर्यावरण, जमीन, पानी, हवा पर जहर के क्या असर होंगे? कीटनाशक वास्तव में जहर होता है। पाउडर अथवा तरल रूप में उपलब्ध कीटनाशक का छिड़काव फसलों पर किया जाता था। वास्तव में दवाई की जितनी मात्रा खेत में छिड़की जाती थी उसका बहुत थोड़ा भाग ही कीटों को मारने के काम आता था। बाकी भाग फसलों पर गिरते हुए मिट्टी पर गिरता था, जिसे मिट्टी और पानी द्वारा सोख लिया जाता था। कुछ हिस्सा हवा में फैल जाता था। पानी के साथ घुलकर जिस तरह जहरीली दवाइयाँ जमीन में पैठ रही थीं, वैसे ही खाद के रसायन भी घुलकर जमीन में पैठ रहे थे।

जमीन में पैठने वाला जहरीला पानी धीरे-धीरे रिसकर भूजल में जाकर मिलने लगा।

रिसन से उतरने वाले घातक जहरीले रसायन भूजल में घुलने लगे। जमीन के अन्दर की भूजल की उथली सतह पर पहले असर हुआ तथा गहरी भूजल सतह बाद में प्रभावित हुई। यह भूजल सिंचाई के साथ ही पेयजल भी था। स्वाभाविक ही कीटनाशक के साये में तैयार हुए अनाज, सब्जियों तथा प्रदूषित पेयजल से इंसानों, मवेशियों और जीव-जन्तुओं के शरीर में ये घातक रसायन पहुँचने लगे। कुछ ही साल बाद गायों के दूध में डीडीटी की मात्रा पाई गई थी।

कीटनाशकों की मात्रा बढ़ाने किसान क्यों मजबूर हैं?

कुदरत का स्वाभाविक इन्तजाम गजब का है। वह अद्भुत तरीके से तालमेल बनाती है। उसने दो तरह के कीट बनाए हैं। एक तो वे कीट जो फसलों को नष्ट करते हैं। दूसरे वे जो फसलों को नष्ट करने वाले कीटों को नष्ट करते हैं। कीटनाशक जहर दोनों तरह के कीटों में कोई फर्क नहीं करता। वह दोनों तरह के कीटों को मार डालता है। इस तरह फसल के कुदरती मित्र कीट भी मर जाते हैं। वे दुश्मन कीट जो कीटनाशक जहर से बच जाते हैं, वे धीरे-धीरे जहर पचाने लगते हैं और उनमें जहर की प्रतिरोधक क्षमता पैदा हो जाती है। उन्हें मारने के लिये कीटनाशक जहर की और ज्यादा मात्रा इस्तेमाल करना पड़ता है। यह एक दुष्चक्र है।

साल-दर-साल कीटनाशक की मात्रा बढ़ती जाती है। हरित क्रान्ति के शुरुआती दौर में पाँच-दस लीटर की क्षमता की टंकी वाले छिड़काव के पम्प थे, जिन्हें किसान पीठ पर बाँधकर हाथ से पम्प चलाकर फसल पर छिड़काव कर लेता था। धीरे-धीरे उनके नाकाफी साबित होने के बाद उसी किसान को स्वचालित प्रणाली और बड़े यंत्रों का इन्तजाम करना पड़ा है।

पिछले दस साल से अब कीटनाशक छिड़काव के बड़े यंत्रों की माँग बढ़ रही है। पाँच सौ लीटर की क्षमता की टंकी को ट्रैक्टर के पीछे हाइड्रॉलिक लिफ्ट के ऊपर कसा जाता है, जिसमें दवाई का घोल भरा जाता है। ट्रैक्टर पर ही स्वचालित स्प्रे पम्प फिट किया जाता है। लम्बी लचीली नली के एक सिरे को स्प्रे पम्प से तथा दूसरे सिरे को नोजल से जोड़कर फसल पर दवाई का छिड़काव किया जाता है। इससे समझा जा सकता है कि पहले की तुलना में अब कितना जहर पर्यावरण में उड़ेला जा रहा है।

वैज्ञानिक अनुसन्धानों से पता चला है कि खाद्य पदार्थों में एक निश्चित मात्रा से ज्यादा कीटनाशक का इस्तेमाल नहीं कर सकते। एक स्वीकृत स्तर से अधिक नहीं होना चाहिए। दुर्भाग्यवश हमारी खाद्यान्न फसलों पर स्वीकृत मानक से लगभग 400 गुना अधिक कीटनाशकों का इस्तेमाल हो रहा है। पंजाब, जहाँ हरित क्रान्ति के प्रारम्भिक वर्षों से ही रासायनिक खाद और कीटनाशकों का बेजा इस्तेमाल होता रहा है, उनके घातक अनुभवों को गम्भीरता से समझने की आवश्यकता है।

कीटनाशक का इंसानों पर घातक असर पंजाब की ‘कैंसर ट्रेन’ की बहुचर्चित कहानी

पंजाब के दक्षिण-पश्चिम में ‘मालवा’ क्षेत्र है जिसमें मुक्तसर, फरीदकोट, मोगा, संगरूर, बठिंडा आदि जिले हैं। मालवा क्षेत्र मुख्य तौर पर कपास पैदा करने वाला इलाका है। बठिंडा रेलवे जंक्शन से रात में एक पैसेंजर ट्रेन ‘लालगढ़-अबोहर-जोधपुर ट्रेन नं. 339’ मालवा के इन जिलों से गुजरती हुई राजस्थान जाती है। राजस्थान के बीकानेर शहर में कैंसर के इलाज का बहुत बड़ा अस्पताल है, जिसका नाम है ‘आचार्य तुलसी रीजनल कैंसर ट्रीटमेंट एंड रिसर्च सेंटर, बीकानेर’। इसकी खासियत यह है कि यहाँ कैंसर का

इलाज बहुत कम खर्च में होता है। मालवा क्षेत्र के गरीब तबके के कैंसर मरीज इस ट्रेन से इलाज कराने बीकानेर जाते हैं। उस ट्रेन में कैंसर मरीजों की इतनी ज्यादा संख्या होती है कि उस ट्रेन का नाम 'कैंसर' ट्रेन पड़ गया है।

आर्थिक रूप से समृद्ध मरीज तो अपना इलाज चंडीगढ़ में करवा लेते हैं, लेकिन गरीबों के लिये आचार्य तुलसी कैंसर अस्पताल का सहारा है। यहाँ जाँच की फीस आधी लगती है, दवाइयाँ 15 से 30 प्रतिशत कम में दी जाती हैं और 45 दिन की रेडियोथेरेपी के कुल 1000 रुपए लगते हैं, जबकि पंजाब के अन्य अस्पतालों में प्रतिदिन के 1000 रुपए लगते थे। हरित क्रान्ति के पंजाब में आने के पहले गाँवों में लोग कैंसर को शहरी बीमारी मानते थे। उसके बाद पंजाब में कैंसर ने पाँव पसारे। हरित क्रान्ति के करीब 30 साल गुजरने के बाद कैंसर का फैलाव चिन्ताजनक हो गया।

पंजाब सरकार ने कैंसर मरीजों की बढ़ती संख्या से चिन्तित होकर सही हाल समझने के लिये पाँच साल तक 'पोस्ट ग्रेजुएट इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल एजुकेशन एंड रिसर्च, चंडीगढ़' से अध्ययन करवाया था। 2013 में अध्ययन की रिपोर्ट जारी करते हुए पंजाब के स्वास्थ्य मंत्री ने कहा कि देश के लिये अनाज का कटोरा बनने की कीमत पंजाब चुका रहा है। रिपोर्ट में कैंसर का मुख्य कारण कीटनाशक का बेजा इस्तेमाल बताया गया। कीटनाशकों का जहर पानी में घुलकर जमीन में पैठा और जमीन से होते हुए धीरे-धीरे भूजल में जा मिला। इससे भूजल भी जहरीला हो गया।

एक अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक पत्रिका 'आईजेसीआरएम.कॉम' वाल्यूम 1, अंक 31 जुलाई 2016 के मुताबिक जहाँ भारत में राष्ट्रीय स्तर पर कैंसर मरीजों का औसत 80 मरीज प्रति लाख है, वहीं पंजाब का औसत 90 से 136 मरीज प्रति लाख पाया गया है। मालवा

क्षेत्र में यह 136 मरीज प्रति लाख है। इस पत्रिका में छपे अध्ययन के मुताबिक 2008 में जहाँ आठ लाख कैंसर मरीज थे, वहीं 2016 में यानी आठ साल में यह संख्या बढ़कर 12 लाख 20 हजार हो जाएगी। कीड़ों से फसल को बचाने के लिये किसान बहुत ज्यादा कीटनाशक दवाई डालते हैं।

हालत यह है कि कपास पर दस बार से लेकर बीस बार तक दवाई छिड़की जाती है। लेकिन उसके बावजूद इल्ली नहीं मरती, क्योंकि इल्लियों में दवाई को हजम करने की क्षमता (जिसे विज्ञान की भाषा में इम्युनिटी या अनुकूलन कहते हैं) तैयार हो गई है। जहरीली दवा के असर पचाने वाली इल्ली को मारने के लिये हर बार दवा की तीव्रता और मात्रा बढ़ाना पड़ता है। पंजाब की यह कहानी पूरे देश के लिये एक गम्भीर चेतावनी है।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कई जिलों में कैंसर वाली सब्जियाँ

देश के एक प्रमुख न्यूज चैनल (जी न्यूज) ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के 6 जिलों में सब्जियों से कैंसर विषय पर केन्द्रित एक रपट अगस्त 2016 में तथा दूसरी रपट दिसम्बर 2016 में पेश की थी जिसके मुताबिक 154 गाँव कैंसर की चपेट में हैं। इसका कारण वहाँ खाई जाने वाली सब्जियाँ हैं। वे सब्जियाँ उन खेतों में पैदा होती हैं जिनमें हिंडन, कृष्णी और काली नदी के पानी से सिंचाई होती है।

औद्योगिक कारखानों से निकलने वाले औद्योगिक कचरे, गन्दगी से प्रदूषित पानी इन नदियों में मिलता है। चैनल की टीम ने उस इलाके में सब्जियों से कैंसर होने के मुद्दे की गहराई से छानबीन की। उन्होंने उस इलाके के अलग-अलग खेतों की सब्जियों के नमूने लिये और उन नमूनों की दिल्ली में एक विश्वसनीय प्रयोगशाला में जाँच करवाई। जाँच

में दो सब्जियों के नमूनों में जहरीले रसायन, भारी धातु और कीटनाशक की मात्रा सुरक्षा के स्वीकृत मानक स्तर से बहुत ज्यादा बढ़कर पाई गई। सब्जियों में इन जहरीले रसायनों के होने का कारण जहरीले पानी से सिंचाई किया जाना है।

ये घातक रसायन सिर्फ सब्जियों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि अनाज और फल भी इनसे प्रभावित हैं। उस इलाके में विस्फोटक रूप से कैंसर बढ़ने का यही कारण है। चैनल का मानना है कि समस्या सिर्फ उत्तर प्रदेश के 6 जिलों तक सीमित नहीं है। रसोईघर में कैंसर की थाली हर जगह घुस रही है। चैनल की ओर से यह चेतावनी समूचे देश को दी गई है। चैनल ने देश के दर्शकों को इस समस्या से बचने के लिये किचन गार्डन में खुद के लिये सब्जियाँ उगाने, किसानों का क्लब बनाने तथा जैविक पद्धति से पैदा की गई सब्जियाँ और अनाज खरीदने के तीन सुझाव दिये हैं।

ऊपर लिखी गई दो कहानियाँ तो मात्र नमूने हैं या हंडी के चावल हैं जिन्हें टटोलकर देश के आज के हालात का अन्दाजा लगाया जा सकता है। कहना न होगा कि हरित क्रान्ति अपनाने वाले दूसरे प्रदेश भी कमोबेश उसी रास्ते पर चल रहे हैं। दूसरी जगह भी अलग-अलग तरह की बीमारियाँ तेजी से बढ़ रही हैं। मध्य प्रदेश में भी उन्नत खेती बहुत जोरों से हो रही है।

मध्य प्रदेश के जबलपुर से रात में 8:50 बजे '12160 जबलपुर-अमरावती सुपर फास्ट ट्रेन' रवाना होती है सुबह 6:25 बजे नागपुर पहुँचती है। जो मध्य प्रदेश के जबलपुर, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, बैतूल जिलों के स्टेशनों से गुजरती है। कई सालों से इस ट्रेन का स्थानीय नामकरण 'एम्बुलेंस' हो गया है, क्योंकि इसमें सफर करने वालों में बड़ी संख्या में मरीज और उनके सहायक इलाज कराने के लिये नागपुर का सफर करते हैं। मध्य

प्रदेश के इन जिलों में लोग इलाज के लिये नागपुर के अस्पतालों और डॉक्टरों को बेहतर मानते हैं।

पिछले कुछ सालों से इस इलाके में भी पंजाब के नक्शे कदम कैंसर के मरीजों की संख्या बढ़ रही है। अब गाँवों में भी कैंसर पैर पसार रहा है। सवाल है कि मरीजों की संख्या में गत कुछ सालों में इतना ज्यादा उछाल क्यों आ गया? यह यहाँ का हाल बताने के लिये काफी है। जबकि यहाँ कीटनाशकों के इस्तेमाल की रफ्तार पंजाब की तुलना में कम रही है। इसलिये अभी उतनी ज्यादा दुर्गति नहीं है। हालांकि अब पंजाब जैसे ही खाद, कीटनाशकों के इस्तेमाल की रफ्तार बढ़ाना मजबूरी बनती जा रही है।

कीटनाशक का छिड़काव करता किसानयदि घातक रसायनों का इस्तेमाल इसी ढंग से बढ़ता रहा तो देर सबेर दूसरे प्रदेशों को भी पंजाब के मालवा क्षेत्र जैसे ही दुखदाई घातक अनुभवों से गुजरना पड़ सकता है। इससे भविष्य के खतरों का केवल अन्दाजा ही नहीं लगाया जाना चाहिए बल्कि समय रहते पर्यावरण को जहर से मुक्त बनाने की पहल भी गम्भीरता से करनी होगी। अमेरिका का एंडरसन (यूनियन कार्बाइड) जैसा कोई भी उद्योगपति जो कीड़े मारने के लिये जहर की फैक्टरी लगाएगा वह अपनी कमाई, अपने मुनाफे की चिन्ता करेगा। जन-स्वास्थ्य और जन-जीवन की चिन्ता करने की संवेदना की उम्मीद उनसे नहीं की जा सकती।

आज अनाज, दलहन, तिलहन, सब्जी, दूध, फल और यहाँ तक कि पानी भी, जो कुछ भी खाने-पीने के लिये मिल रहा है, उन सब पर जहरीले रसायनों का साया है। इनके कारण लोगों की रोग प्रतिरोधक क्षमता घट गई है। तरह-तरह के रोग जकड़ रहे हैं। डॉक्टरों और अस्पतालों की संख्या बढ़ रही है। इलाज बहुत महंगा होता जा रहा है। कैंसर, हृदयरोग,

किडनी, लीवर, पक्षाघात (लकवा) आदि जैसी घातक बीमारियाँ आम हो रही हैं।

होशंगाबाद और नरसिंहपुर जिलों में करीब 40-45 साल से प्रैक्टिस कर रहे कुछ सफल डॉक्टरों से जब इन बीमारियों की 25-30 साल की अवधि में वृद्धि दर को लेकर उनके अनुभव जानना चाहे, तो उनका कहना था कि पहले कैंसर की बीमारी वाले मरीज बिरले ही आते थे। लेकिन आज तो कैंसर और हृदय रोग से पीड़ित मरीजों की संख्या जिस तरह से बढ़ी है, वह खतरे की घंटी है। सरकार को इस पर गम्भीरता से ध्यान देना चाहिए। ब्लड प्रेशर तथा डायबिटीज की वृद्धि तो कल्पना से परे है। प्रदूषित खान-पान ने लोगों का स्वास्थ्य चौपट कर दिया है। इलाज भी बहुत महंगा हो गया है, जिससे लोगों का बजट बिगड़ जाता है।

बिना कीटनाशक दवा छिड़के इल्ली मारने के किसानों के कुछ देसी सफल प्रयोग

कुछ किसानों ने फसल पर बिना कीटनाशक छिड़के इल्ली मारने के नायाब प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगों के पीछे की समझ यह थी कि इल्लियों के दुश्मन कीटों को फसल तक पहुँचा दें। फिर इल्लियों को मारने का काम उनके दुश्मन कीट कर लेंगे। एक प्रयोग में एक किसान ने शक्कर मिल में बनने वाले सह-उत्पाद मोलासिस का इस्तेमाल किया।

एक बाल्टी पानी में मोलासिस डालकर उस घोल को इल्ली के प्रकोप वाली फसल पर फुहार जैसा छिड़क दिया। मोलासिस की गन्ध से चीटियाँ आई जहाँ उन्हें इल्लियाँ मिलीं। चीटियाँ उन इल्लियों को खा गईं। ऐसे ही एक अन्य प्रयोग में खेत में जगह-जगह ऐसी डंडियाँ गाड़ दी गईं। जिन पर चिड़िया या अन्य पक्षी आसानी से बैठ सकें। आसमान में उड़ती चिड़िया पौधे में होने वाली हलचल को देखकर समझ जाती थीं कि वहाँ इल्ली है।

चिड़िया खेत में गड़ी डंडी पर आकर बैठती थीं और इल्ली को चोंच में दबाकर खेत के बाहर ले जाती थीं।

खेती : मुनाफे का या घाटे का सौदा

हरित क्रान्ति के पहले के सालों में बम्पर पैदावार हुई। मंडियों में दाम भी अच्छे मिले। किसान के हाथ में इकट्ठी बड़ी रकम आई। बैंकों से खाद, बीज, दवाई का सालाना फसल का कर्ज तथा मशीनों, ट्रैक्टर वगैरह के कर्ज की किस्त ब्याज सहित चुकाने के बाद बचत होने लगी। प्रारम्भिक सालों में मामला ठीक ठाक रहा। लेकिन कुछ साल बाद बचत गायब होने लगी। उसका कारण था कि खेती में लगने वाली हर चीज के दाम बढ़ने लगे। बीज, खाद, कीटनाशक, इंजन/मोटर पम्पसेट, मशीनें, डीजल, ट्रैक्टर और उनके सहायक यंत्र आदि सबके दाम तेजी से बढ़े। मंडियों में दाम तय करने का अधिकार अनाज व्यापारियों का था, किसान का नहीं। महंगी लागत से पैदा हुए अनाज के दाम उस हिसाब से बढ़कर नहीं मिले। दूसरी तरफ खेत से पैदावार थमने लगी।

पैदावार बढ़ाने के लिये जहाँ प्रति एकड़ खाद की एक बोरी लगती थी, वह डेढ़ से दो बोरी लगने लगी। इस प्रकार लागत दो तरह से बढ़ी। एक तो कम्पनियों ने बीज, खाद और कीटनाशक आदि के दाम बढ़ा दिये। इसके अलावा निर्धारित मात्रा से ज्यादा खाद लगने से जो मात्रा बढ़ी उसके दाम, इनका अतिरिक्त बोझ पड़ा। चूँकि शुरू में किसान के हाथ में अच्छा पैसा आया, इसलिये उसके अपनी निजी और परिवार का जीवन स्तर उठाने के लिये खर्चे बढ़ गए। मकान बनाए या दोपहिया या चार पहिया वाहन खरीदे। शादी ब्याह, पारिवारिक आयोजन, धार्मिक आयोजन, पारिवारिक शोक से जुड़ी रस्म, रसोई या अन्य सामाजिक कार्यों में ज्यादा खर्च होने लगा।

सामाजिक हैसियत बनाए रखने के लिये ज्यादा पैसे की दरकार होने लगी। यदि किसी साल मौसम की बेरुखी से फसल बिगड़ गई तो बड़ा संकट खड़ा हो गया। खेती की लागत बढ़ने और परिवार के खर्चे बढ़ने से बचत गायब हो गई। घटे उत्पादन से फसल पैदा करने के लिये खर्च की गई पूँजी यानी लागत तक नहीं निकलती। बैंकों से कर्ज दिये जाने की सीमा नाकाफी होने से किसान फिर साहूकार के दरवाजे पहुँचने लगा। हरित क्रान्ति में सब किसान प्रगतिशील बन गए थे, वे सब प्रगतिशील किसान आज इस दुष्चक्र में फँस गए हैं।

दूध, फल और सब्जी में लालच के खतरनाक प्रपंच

चन्द लोग जल्दी पैसा कमाने के चक्कर में कुछ ऐसी तरकीबें अपना रहे हैं जिन्हें किसी भी हालत में ठीक नहीं माना जा सकता। यह अच्छी बात है कि कई किसान गाय, भैंस पालकर दूध बेचकर अपनी माली हालत ठीक कर रहे हैं। मगर कुछ दूध उत्पादक ऐसे भी हैं, जो बिना दुधारू गाय, भैंसों के ही दूध का उत्पादन कर उपभोक्ताओं को बेचते हैं। यूरिया, डिटर्जेंट, सोयाबीन का तेल, कोलगेट टूथपेस्ट या सफेद पेंट के मिश्रण से नकली दूध बनाते हैं तथा उसमें थोड़ा असली दूध मिलाकर बाजार में लाते हैं। इसी तरह चन्द सब्जी उत्पादक भी सब्जियों का तरह-तरह से रासायनिक उपचार करते हैं। लौकी जैसी सब्जियों को जल्दी बढ़ाने के लिये हारमोन के इंजेक्शन लगाते हैं।

कीटनाशकों का निर्धारित मात्रा के कई गुना ज्यादा छिड़काव करते हैं। भिंडी जैसी हरी सब्जियों को हरियाथूथा (एक तरह का घातक रसायन) के घोल में डुबाकर रखने से वे आकर्षक हरी दिखती हैं। लालच में पड़े कुछ सब्जी उत्पादक और विक्रेता इस गोरखधन्धे

में शामिल होते हैं। फलों पर भी रासायनिक कीटनाशकों का काफी इस्तेमाल होता है। यह काम सब गोपनीय ढंग से किया जाता है। इस तरह भोजन की थाली में लालच के कारण अतिरिक्त जहर भी पहुँचाया जा रहा है।

सरकार की भूमिका ज्यादा बड़ी है

किसान के सामने कई बार अजीब संकट आता है। बाजार का नियम माँग और पूर्ति के सिद्धान्त पर चलता है। कभी आलू ज्यादा पैदा हो जाता है, कभी प्याज और कभी टमाटर। फसल इतनी ज्यादा हो जाती है कि खरीददार नहीं मिलते। ऐसी हालत में किसान कभी आलू सड़क पर फेंकता है, कभी टमाटर और कभी प्याज। वह अपनी हताशा और गुस्सा व्यक्त कर चला जाता है।

कुछ साल पहले गन्ने की खड़ी फसल को मिलों द्वारा नहीं खरीदने पर किसानों ने अपने हाथ से आग भी लगाई थी। एक फसल बर्बाद होने के साथ ही किसान का एक साल तो बर्बाद हो ही जाता है, लेकिन एक साल की फसल बर्बाद होने का नतीजा यह होता है कि तीन साल तक उसकी गाड़ी पटरी पर नहीं आ पाती। अनाज या शक्कर आदि की लोगों को नियमित उपलब्धता होती रहे इसके लिये सरकार बफर स्टाक का इन्तजाम करती है। लेकिन किस चीज की देश में कितनी जरूरत है और उसके मुताबिक कितनी मात्रा में उत्पादन होना चाहिए, इन दोनों बातों में तालमेल का अभाव रहता है। माँग और पूर्ति में तालमेल रहे यह नियोजन करना सरकार के हाथ में है।

परम्परागत बीजों को सहेजते हैं विजय जड़धारीकिसान को उत्पाद के कितने दाम मिले तथा उपभोक्ता को किस दाम पर जिंस मुहैया कराई जाये इनके बीच सही तालमेल

बिठाया जाना जरूरी है। सही नियोजन के अभाव में जब किसान का कोई उत्पाद ज्यादा हो जाता है तो उसे दाम नहीं मिलते। इस कारण अगले वर्ष किसान उस उत्पाद से मुँह मोड़ लेता है। नतीजा यह होता है कि दूसरे साल उस उत्पाद के दाम आसमान छूने लगते हैं। देशव्यापी व्यवस्था करने वाली सरकार की जवाबदारी तालमेल बिठाने की है। किसान को उसकी फसल का उचित दाम अवश्य ही मिलना चाहिए। यह सुनिश्चित करना भी सरकार की जिम्मेदारी है।

किसान क्रेडिट कार्ड

बाद में केन्द्र सरकार ने 'किसान क्रेडिट कार्ड' योजना शुरू की। इस योजना का उद्देश्य यह था कि किसान खेती में खर्च के लिये आवश्यकतानुसार कभी भी अपने खाते से पैसा निकाले और फसल बिकते ही जमाकर दे। बैंक ने प्रति एकड़ कर्ज की सीमा तय की थी जिस पर रियायती दर से ब्याज लिया जाता था। शर्त यह थी कि ब्याज सहित क्रेडिट कार्ड की पूरी रकम साल में एक बार जमा करना पड़ती थी। जमा करने के बाद अगले ही दिन फिर बैंक से पैसा निकाला जा सकता था। इससे बैंक की पूरी रकम साल में एक बार लौट आती थी। किसान को इससे क्या फायदा हुआ, इसके मिश्रित अनुभव रहे हैं।

ज्यादातर किसान इससे प्राप्त कर्ज की रकम खेती के बजाय अन्यत्र खर्च कर देते हैं और निर्धारित तिथि पर साहूकारों से महंगी ब्याज दर पर रकम उधार लेकर बैंक में जमाकर देते हैं और अगले दिन ही बैंक से फिर राशि निकालकर साहूकार को चुका देते हैं। इस तरह बैंक का कर्ज मात्र दो दिन के लिये साहूकार पर ट्रांसफर होकर वापस बैंक पर चला जाता है। साहूकार के ब्याज का अतिरिक्त बोझ और बढ़ जाता है। किसान के कर्ज मुक्त होने का रास्ता नहीं बनता।

मध्य प्रदेश सरकार ने किसानों पर लगने वाले ब्याज की चन्ता की है। राज्य सरकार के अधीन सहकारी बैंकों से किसानों को दिये जाने वाले कर्ज का ब्याज क्रमशः घटाया। 14 प्रतिशत लगने वाले ब्याज की दर शून्य प्रतिशत तक घटाई। बाद में यह भी किया कि किसान जितनी कीमत का खाद सोसाइटी से खरीदे, फसल आने पर उस कीमत का दस प्रतिशत कम राशि जमा कर दे तो उसका भुगतान पूरा माना जाएगा। लेकिन इससे रासायनिक खाद वाला चक्रव्यूह नहीं टूटता।

किसान क्रेडिट कार्ड, शून्य प्रतिशत ब्याज, सब्सिडी, राहत, मुआवजा, फसल बीमा योजना आदि सरकारी सहायता की कोशिशों के बावजूद किसान इसलिये परेशान है क्योंकि खेती घाटे का सौदा बन चुकी है। इन सरकारी बैसाखियों के सहारे किसान को खड़ा करने की सरकार की कोशिश है। लेकिन वह अपने पैरों पर खड़े होने की स्थिति में नहीं है। उसका सीधा-सा कारण है लागतों का बेतहाशा बढ़ जाना, उत्पादन घटना और बाजार में कम दाम मिलना। आँकड़े बताते हैं कि हरित क्रान्ति से खेती की पैदावार अधिकतम चार गुना बढ़ पाई और वहीं स्थिर हो गई। लेकिन उस स्थिर उत्पादन को पाने के लिये लागतें न जाने कितने गुना बढ़ गईं। ये लागतें किसान का बोझ बन गईं। इस बोझ को हटाने की जरूरत है।

गर्मी के मौसम में अतिरिक्त फसल का रूझान : भूजल संकट को न्यौता

खरीफ सीजन में सोयाबीन की खेती से शुरू में अच्छा फायदा मिला। बाद में सोयाबीन की खेती में लगातार घाटा हुआ। इससे किसानों का सोयाबीन से मोह भंग हो गया है। खरीफ और रबी की फसलें लेने के बाद किसान गर्मी के मौसम में तीसरी फसल के प्रति

आकर्षित हुआ है। मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में गर्मी के सीजन की मूँग लगाने का सिलसिला जोरों से चला है।

गर्मी की फसल को ज्यादा पानी चाहिए क्योंकि पानी जल्दी ही भाप बनकर उड़ जाता है। मूँग की खेती से अभी तो किसानों को ठीक पैसा मिल रहा है। लेकिन भूजल इतना ज्यादा उलीच लिया है कि अब पेयजल का संकट पैदा होने लगा है। इसके अलावा कई किसान गन्ने की खेती कर रहे हैं। गन्ने की फसल पूरे एक साल की होती है और ज्यादा पानी लगता है।

मूँग की फसल के कारण पेयजल संकट पैदा होने के अनुभव की एक बानगी - पिछली मई 2016 में होशंगाबाद जिले के बनखेड़ी विकासखण्ड के ग्राम महगवाँ के कुछ किसानों ने बड़ी बात कही। उनका कहना था कि गर्मी के सीजन में बोई जाने वाली फसल मूँग पर रोक लगवाई जानी चाहिए। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि मूँग में नलकूपों से होने वाली सिंचाई के कारण उनके गाँव के सभी, सौ से अधिक हैण्डपम्प सूख गए हैं। गाँव में पीने का पानी नहीं है। वाटर लेवल (भूजल की सतह) बहुत नीचे चला गया है।

चूँकि खेतों में बने नलकूप गहरे खुदे हैं, जब वे चलते हैं तो जमीन के भीतर का पानी वहाँ खिंच जाता है। लेकिन बिजली बन्द हो जाने से नलकूप बन्द हो जाते हैं। करीब चार छह घंटे तक नलकूप बन्द रहने से गाँव के कुछ हैण्डपम्पों में पानी आने लगता है। यह पूछा जाने पर कि ऐसी हालत में पीने के पानी का इन्तजाम कैसे करते हैं, उन्होंने बताया कि ट्रैक्टर के पीछे पानी की कोठी बाँध कर खेत ले जाते हैं और वहाँ के नलकूपों से पानी लाते हैं। ये वे किसान थे, जिन्होंने खुद भी अपने खेतों में मूँग लगाई थी।

यही बात पिपरिया विकास खण्ड के ग्राम खैरी के किसानों ने दुहराई। एक किसान के मुताबिक जब नवम्बर माह में रबी सीजन शुरू हुआ था और गेहूँ के लिये पलेवा के पानी दे रहे थे, उस वक्त तो नलकूप में उसकी मोटर साठ फुट पर चल रही थी, लेकिन अप्रैल-मई में मूँग में पानी देने के लिये वही सबमर्सिबल मोटर पम्प एक सौ तीस फुट पर उतारना पड़ा है। यानी भूजल की सतह सत्तर फुट नीचे चली गई। हालात दिनों दिन बिगड़ते जा रहे हैं। रबी के सीजन में मौसम की खराबी से गेहूँ की फसल को बहुत नुकसान हुआ।

जब गेहूँ की बालियों में दाना पड़ रहा था और बालियाँ वजनी हो रही थीं, फसल पकने को थी, उसी समय पानी गिरने और तेज आँधी चलने से फसल आड़ी हो गई। इससे गेहूँ का दाना कमजोर और कम वजन का रह गया। झड़ा (उत्पादन) कम रह गया। सोचा कि गेहूँ की खेती में हुए घाटे की मूँग से भरपाई कर लेंगे, इसलिये मूँग लगाई थी। मगर मूँग में बहुत पानी लगता है, क्योंकि गर्मियों में खेतों में सींचा गया पानी बड़ी तेजी से उड़ जाता है। अगर जमीन के भीतर का पानी इसी तरह सूखता रहा, तो त्राहि-त्राहि मच सकती है। इस वजह से गर्मी के सीजन की मूँग बोने पर सरकार को सख्ती से रोक लगा देनी चाहिए। खैरी गाँव की यह घटना तो एक नमूना है। ऐसी ही कहानी हर गाँव की है।

कई गाँवों के किसानों ने मूँग की गर्मी सीजन की फसल, जो उन्होंने उस समय काटी थी, उसके बारे में एक बात और बताई। उनका कहना था, यह मात्र साठ दिन की फसल है, लेकिन इस पर इल्ली का बहुत ज्यादा प्रकोप हुआ। इसलिये इस पर लगातार दवाई सींचनी पड़ी। फसल पकने के समय पानी गिरने के आसार दिखे थे, इसलिये जल्दी सुखाने के लिये अलग दवाई डाली जो बहुत तेज थी, जिससे दो दिन में सुखाकर फसल काट ली। मूँग के पौधे समेत उसकी पत्तियों पर भी कीटनाशक का असर था। उस वजह

से मूँग के पत्ते का भूसा या तो मवेशी खा ही नहीं रहे हैं। लेकिन जो मवेशी किसी तरह खा रहे हैं उनका पेट खराब हो रहा है। वे पौंक (पतले दस्त) रहे हैं।

हरित क्रान्ति का एक असर गाँवों की परस्पर तालमेल से चलने वाली अर्थव्यवस्था पर यह हुआ है कि गौ-वंश का खेती से रिश्ता टूट गया है। गाँव के जितने भी कारीगर, कामगार थे, जो परम्परागत खेती में किसान को सेवाएँ देकर अपनी रोजी-रोटी कमाते थे, वे सब बेरोजगार हो गए तथा रोजगार की तलाश में शहरों की ओर पलायन कर गए। पहले हल, बखर खराब होने पर गाँव का कारीगर सुधार देता था, आज ट्रैक्टर खराब होने पर वह गाँव में नहीं सुधरता। शहर की वर्कशॉप में सुधरता है। स्पेयर पार्ट्स कम्पनी से मँगवाने पड़ते हैं।

यह सुधराई बहुत महँगी पड़ती है। बैल खेत में हल, बखर खींचते थे। उनका श्रम इस्तेमाल होता था। वे खेत की मेंड़ पर उगा चारा तथा अनाज का भूसा चरते थे। चराई लगभग मुफ्त में होती थी। जबकि आधुनिक खेती में ट्रैक्टर खेत में वही काम करते हैं, ज्यादा तेजी से करते हैं। उनको चलाने के लिये डीजल लगता है, जो विदेशों से आता है। पशुधन के गोबर से जैविक खाद बनती थी, उसमें भी विशेष खर्च नहीं होता था। लेकिन अनाज ज्यादा पौष्टिक और निरापद होता था। भूजल न तो प्रदूषित होता था और न ही भूजल स्तर के गिरने से पेयजल संकट पैदा होता था। जो परम्परागत बीज थे उनमें रोग प्रतिरोधक क्षमता थी। हरित क्रान्ति ने उन बीजों को भी गायब कर दिया।

हरित क्रान्ति असफल हुई

अब विशेषज्ञों ने भी मान लिया है कि हरित क्रान्ति का पहला चरण असफल सिद्ध हो

चुका है। खेती में घाटा होने से परेशान किसानों द्वारा आत्महत्या का सिलसिला चल ही रहा है। विपुल उत्पादन से फायदे का भ्रम भी टूटा। फसल बेचने से जो रकम हाथ में आती है, होती तो खासी है, मगर जब फसल की लागत की उधारी चुकाते हैं तो सारी रकम देने के बावजूद उधारी बाकी बच जाती है। लागतें बेतहाशा बढ़ चुकी हैं। पैदावार घटकर सिमट रही है। हरित क्रान्ति से प्रारम्भिक दौर में अच्छा पैसा मिलने से किसानों की जिन्दगी में पैसे का अच्छा खासा असर आया। इससे परिवारों के खर्चे बढ़ गए। दूसरी तरफ आमदनी घट गई।

ऐसी परिस्थिति में कभी कोई फसल मौसम की खराबी, बीज की खराबी या कोई प्राकृतिक दुर्घटना के कारण बर्बाद हो जाती है तो हालात सम्भालना मुश्किल हो जाते हैं और अगर किसी कारण खेती दो-तीन सीजन लगातार चौपट हो जाये, दूसरी तरफ बैंक के कर्ज और साहूकारों से लिये कर्ज की वसूली का दबाव बढ़ जाये, इज्जत दाँव पर लग जाये, तब किसान को भविष्य पूरी तरह अन्धकार में दिखता है। खेती पर निर्भर रहने वाले शुद्ध किसान के पास आय का कोई अतिरिक्त स्रोत नहीं होता। किसानों की आत्महत्या के पीछे यही मानसिक दबाव होता है।

हरित क्रान्ति के दूसरे चरण की तैयारी जी.एम. सीड

अब हरित क्रान्ति के दूसरे चरण की तैयारी हो रही है। इसमें बताया जा रहा है कि प्रयोगशालाओं में बीजों को वैज्ञानिक विधि से सुधारा जाएगा। इसके लिये बीज के 'जीन' में संशोधन किया जाएगा। ऐसे ही संशोधित जीन वाले बीजों को जेनेटिकली मॉडीफाइड या जी.एम. सीड कहा जाता है। बीटी बैंगन तथा बीटी कॉटन काफी चर्चा में रहे हैं। ये भी जी.एम. सीड थे।

सन 2002 में देश के कई किसानों ने बीटी कॉटन, जो जी.एम. सीड था, बड़े पैमाने पर बोया था। वह बीज फेल हो गया था, इस कारण बड़ी संख्या में किसानों ने आत्महत्याएँ की थीं। जी.एम. सीड की खेती से उपजे अन्न को खाने से लोगों के स्वास्थ्य पर क्या असर होंगे, इस पर अभी कई सवाल हैं। मानव जीवन के लिये जी.एम. अन्न का आहार निरापद सिद्ध नहीं हुआ है। दूसरी तरफ जो कम्पनियाँ प्रयोगशाला में ये बीज तैयार करने वाली हैं, वे भारत सरकार से ऐसा कानून बनवाना चाहती हैं जिससे वे बीज व्यापार पर पूरी तरह मोनोपॉली या एकाधिकार कर सकें।

हर बार किसान या तो उनसे ही बीज खरीदे या स्वयं के खेत में पैदा जी.एम. बीज को यदि बोना चाहता है, तो पहले कम्पनी को रॉयल्टी चुकाए। उनकी बिना इजाजत यदि कोई किसान उनके जी.एम. बीज बोये, तो उस किसान पर मुकदमा चलाने और सजा में जुर्माने और जेल की सजा का प्रावधान हो। अधिकृत तौर पर जी.एम. सीड बोये गए खेत के बाजू वाले खेत में धोखे से उस बीज का दाना गिर गया और वो उगकर पौधा बन गया, तो जिसके खेत में जी.एम. सीड वाला पौधा मिलेगा, उस पर भी जुर्माना और सजा का प्रावधान एक बिल के मसौदे में किया गया था। वह बिल जिसका नाम है 'बायो रेगुलेटरी अथॉरिटी ऑफ इण्डिया' (बी.आर.ए.आई. बिल) संसद में कानून बनवाने के लिये पेश भी किया गया।

बिल का मसौदा कम्पनी को सुरक्षा देता है, किसान को नहीं। अमेरिका की बीज कम्पनी 'मान्सेन्टो' इस बिल को भारत की संसद में पारित करवाने के लिये अमेरिकी सरकार के जरिए जोर लगाती रही है। जैसा सब्जबाग हरित क्रान्ति के पहले चरण में दिखाया गया था, वैसा ही इस दूसरे चरण के लिये दिखाया जा रहा है। समझ में नहीं आता कि

जी.एम. सीड किसान के भले के लिये है अथवा बीज उत्पादक कम्पनियों के भले के लिये। हालांकि ऐसा विधेयक जिसमें उपर्युक्त प्रावधान थे, उसे भारत की संसद ने पास नहीं किया है।

परम्परागत बीजों का संरक्षण

धान की फसल को दिखाते किसान बाबूलाल दाहियादेश में कुछ किसान परम्परागत बीजों के संरक्षण में जुटे हैं। ऐसे ही सतना के श्री बाबूलाल दाहिया हैं जिन्होंने धान की परम्परागत सौ किस्मों के बीज संरक्षित किये हैं। वे अपनी खेती में अभी भी परम्परागत बीजों का उपयोग करते हैं। उनका कहना है कि उस क्षेत्र (रीवा, सतना) में पुराने समय में आठ प्रकार के बीज बोये जाते थे। इससे जमीन की पैदावारी की ताकत कायम रहती थी। उस समय जो देसी बीज विकसित किये गए थे वे उस समय होने वाली बरसात के हिसाब से किये गए थे।

स्थानीय वर्षा, जमीन की किस्म तथा वातावरण के बोवनी के लिये कौन-सा बीज ठीक रहेगा, इसका ज्ञान पारम्परिक था। इस कारण जितनी बरसात होती थी वह उन देसी बीजों के लिये पर्याप्त थी। उन्होंने जिन सौ बीजों का संरक्षण किया है उनमें रासायनिक खाद और कीटनाशक का इस्तेमाल नहीं किया है, जिससे उन बीजों के स्वाभाविक गुण मौजूद हैं।

घड़े से टपक सिंचाई

टपक सिंचाई या ड्रिप इरीगेशन का काम महंगे यंत्रों के बजाय घड़े से टपक सिंचाई करना

एक सफल प्रयोग है। अनुकूल टेक्नोलॉजी के इस प्रयोग में लागत काफी कम है। खासतौर से रेतीली मिट्टी जिसमें पानी सोखने की क्षमता कम हो या न हो, उसके लिये यह मुफीद है। इस प्रक्रिया में एक मिट्टी का घड़ा, जिसके पेंदे में बारी छेद किया गया हो और छेद में हल्की रुई लगा दी हो, उसे पौधे की जड़ के पास गड्ढा करके रख देते हैं। घड़े में पानी भर देते हैं। घड़े से पानी धीरे-धीरे रिसता है तथा पौधे की जड़ तक पहुँच जाता है। ऐसे ही एक प्रयोग में स्वैच्छिक संस्था किशोर भारती ने होशंगाबाद जिले में बनखेड़ी विकास खण्ड के पलिया पिपरिया गाँव में 40 एकड़ रेतीली जमीन पर मिश्रित जंगल लगाया था, जो पूर्णतः सफल रहा।

जैविक खेती

जैविक खेती प्रकृति के साथ तालमेल बनाकर चलती है। जैविक खेती में पौधों को पोषण जैविक खाद द्वारा दिया जाता है। मिट्टी में असंख्य जीव रहते हैं जो कि एक-दूसरे के पूरक तो होते ही हैं साथ में पौधों की बढ़वार हेतु पोषक तत्व भी उपलब्ध करवाते हैं। जैविक खेती एक ऐसी पद्धति है, जिसमें रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों तथा खरपतवारनाशियों के स्थान पर जीवांश खाद पोषक तत्वों (गोबर की खाद कम्पोस्ट, हरी खाद, जीवाणु कल्चर, जैविक खाद आदि) जैवनाशियों (बायो-पेस्टीसाइड) आदि का उपयोग किया जाता है, जिससे न केवल भूमि की उर्वरा शक्ति कायम रहती है, बल्कि पर्यावरण भी प्रदूषित नहीं होता। कृषि लागत घटने और उत्पाद की गुणवत्ता बढ़ने से किसान को ज्यादा लाभ होता है।

हरित क्रान्ति की खेती में पौधों को पोषण फैक्टरी में बने रासायनिक खाद द्वारा दिया जाता है क्योंकि हरित क्रान्ति वाली खेती में जमीन को एक ऐसा माध्यम माना जाता है

जिसमें सिर्फ रासायनिक खाद और रासायनिक कीटनाशक की भूमिका होती है, जीवाणुओं की नहीं। इसमें मित्र कीटों को भी दुश्मन कीटों की तरह मार दिया जाता है। इसलिये जहर का इस्तेमाल होता है। इस जहर से वे जीव भी मर जाते हैं जो किसान के हितैषी होते हैं। जैविक खेती पद्धति में किसान हितैषी जीवों के बीच तालमेल बिठाया जाता है।

सन 1965 के बाद से खेतों में तेज रासायनिक खाद एवं कीटनाशक डालने से मिट्टी के जीवाणु नष्ट हो चुके हैं। जैविक खेती प्रारम्भ करने से मिट्टी के जीवाणु धीरे-धीरे विकसित होने लगेंगे। उसके साथ ही मिट्टी का उपजाऊपन वापस लौटने लगेगा। जैविक खेती को सरकारें अब प्रोत्साहन दे रही हैं। इस खेती के बारे में कृषि विभाग का अमला किसानों की जानकारी देता है तथा प्रशिक्षण भी देता है। खेती के प्रयोगों से जुड़ी कई संस्थाओं तथा कई किसानों ने जैविक खेती के प्रयोग शुरू किये हैं।

उल्लेखनीय है कि सिक्किम जैविक खेती वाला देश का पहला राज्य बन गया है। जैविक खेती और प्राकृतिक खेती एक जैसी प्रतीत होते हुए भी एक नहीं है। यह अवश्य है कि दोनों तरह की पद्धतियों में रासायनिक खाद और रासायनिक कीटनाशकों का उपयोग नहीं किया जाता। फिर भी दोनों के बीच सैद्धान्तिक भिन्नता है।

जीरो बजट प्राकृतिक खेती (जैविक खेती नहीं)

कृषि ऋषि, पद्मश्री विभूषित श्री सुभाष पालेकर ने जीरो बजट प्राकृतिक खेती के सफल प्रयोग किये हैं। उनका कहना है कि जैविक और रासायनिक खेती के चलन से औसत उपज स्थिर हो रही है। जहरीला अनाज पैदा हो रहा है। इसकी वजह से बीमारियाँ भी बढ़ रही है। परम्परागत खेती किसानों के लिये घाटा साबित हो रही है। नतीजतन उनका

खेती से मोहभंग हो रहा है। वे शहर की ओर पलायन को मजबूर हैं।

किसान आत्महत्या को भी मजबूर हैं। ऐसे में शून्य लागत प्राकृतिक खेती उनके जीवन को बदल रही है। उन्होंने बताया कि गाय के एक ग्राम गोबर में असंख्य सूक्ष्म जीव हैं, जो फसल के लिये जरूरी 16 तत्वों की पूर्ति करते हैं। इस विधि में फसलों को भोजन देने के बजाय भोजन बनाने वाले सूक्ष्म जीवों की संख्या बढ़ा दी जाती है। इससे 90 फीसदी पानी और खाद की बचत होती है।

सुभाष पालेकर द्वारा जीरो बजट सिंचाई पद्धति का अभियान चलाया जा रहा हैश्री पालेकर का दावा है कि इस खेती में सब कुछ प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर होता है। रासायनिक खाद, कीटनाशक, उन्नत (हाइब्रिड) बीज जैसे किसी आधुनिक उपाय का इस्तेमाल नहीं होता। पालेकर ने दावा किया कि शून्य लागत प्राकृतिक खेती से जैविक खेती तथा रासायनिक खेती की तुलना में ड्योढी पैदावार होती है। बाजार में खाद्यान्न का मूल्य दो गुना से अधिक मिलता है। उनके द्वारा प्रयोग की गई खेती के तीन चरण हैं -

बीजामृत (बीजशोधन)

5 किलो देशी गाय का गोबर, 5 लीटर गोमूत्र, 50 ग्राम चूना, एक मुट्ठी पीपल के नीचे अथवा मेड़ की मिट्टी, 20 लीटर पानी में मिलाकर चौबीस घंटे रखें। दिन में दो बार लकड़ी से हिलाकर बीजामृत तैयार किया जाता है। 100 किलो बीज का उपचार करके बुवाई की जाती है। इससे डीएपी, एनपीके समेत सूक्ष्म पोषक तत्वों की पूर्ति होती है और कीटरोग की सम्भावना नगण्य हो जाती है।

जीवामृत

इसे सूक्ष्म जीवाणुओं का महासागर कहा गया है। 5 से 10 लीटर गोमूत्र, 10 किलो देशी गाय का गोबर, 1 से दो किलो गुड़, 1 से दो किलो दलहन आटा, एक मुट्ठी जीवाणुयुक्त मिट्टी, 200 लीटर पानी। सभी को एक में मिलाकर ड्रम में जूट की बोरी से ढकें। दो दिन बाद जीवामृत को टपक सिंचाई के साथ प्रयोग करें। जीवामृत का स्प्रे भी किया जा सकता है।

घन जीवामृत

100 किलो गोबर, एक किलो गुड़, एक किलो दलहन आटा, 100 ग्राम जीवाणुयुक्त मिट्टी को पाँच लीटर गोमूत्र में मिलाकर पेस्ट बनाएँ। दो दिन छाया में सुखाकर बारीक करके बोरी में भर लें। एक एकड़ में एक कुन्तल की दर से बुवाई करें। इससे पैदावार दो गुनी तक बढ़ जाएगी।

श्री पालेकर के मुताबिक इस पद्धति में एक देशी गाय से 30 एकड़ खेती होती है। पैदावार रासायनिक खेती से कम नहीं मिलती, जबकि लागत खर्च कुछ नहीं है। उनका यह भी दावा है कि देश में जितने किसानों ने जीरो बजट प्राकृतिक खेती अपनाई है, उनमें से आज तक किसी ने आत्महत्या नहीं की है। श्री पालेकर देश में जगह-जगह किसानों को इस विधा में प्रशिक्षित करने के लिये शिविर लगाते हैं। उनका दावा है कि विदेशों में भी इस तकनीक को वहाँ की खेती का हिस्सा बना दिया गया है। इसके अलावा वे अब तक देश में भ्रमण करके 40 लाख किसानों को शून्य लागत खेती से जोड़ चुके हैं।

लाख टके का सवाल है कि अब किसान क्या करे और क्या न करे?

दुष्यंत का एक शेर है-

“सुना था दरख्तों में छाँव होती है,
हम बबूल के साये में आके बैठ गए।”

देश ने बड़ी उम्मीद से हरित क्रान्ति अपनाई थी, मगर क्या हुआ? परम्परागत खेती हजारों साल तक टिकी रही, लेकिन हरित क्रान्ति के पैर पचास साल में ही उखड़ गए। शुरू-शुरू में विपुल उत्पादन हुआ जैसे तपती धूप में छाया महसूस हुई हो, मगर कुछ साल बीतने के बाद वह छाया गायब हो चुकी है। अब कड़ी चिलचिलाती धूप है और बबूल के काँटे-ही-काँटे हैं।

आज केन्द्र और राज्य सरकारें इस कोशिश में लगी हैं और चाहती हैं कि खेती लाभ का धन्धा बने। सरकार मददगार हो सकती है, मगर किसान को पुश्तैनी तजुर्बा, पारम्परिक ज्ञान और आज के विज्ञान की रोशनी में आगे का रास्ता खोजना पड़ेगा जहाँ उसे बबूल के बजाय भरोसेमन्द घनी छाया वाला फलदार दरख्त मिले। इसलिये चक्रव्यूह से बाहर निकलने के लिये उसे परम्परागत खेती के कुछ सूत्र पकड़ने पड़ेंगे।

कुछ विचारणीय बिन्दु यहाँ प्रस्तुत हैं

1. किसान अन्धानुकरण छोड़, आत्मविश्वास के साथ विवेक से काम लें। उनकी समझ

एक कृषि वैज्ञानिक जैसी है। खेत उनकी प्रयोगशाला है। उनके पास पुरानी और नई पद्धति का ज्ञान है तथा खेत की मिट्टी के साथ रचे-बसे हैं। प्रकृति के स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय में पढ़े हैं।

2. पंजाब की जहरीली खेती से सबक सीखें, अपने प्रदेश को पंजाब न बनने दें।

3. खेती को बहुत जहर पिलाया है, जमीन, जल, वायु, प्रकृति, जीवन, सब में जहर फैल चुका है।

4. थाली में जहर परोसने वाली खेती बन्द करें। यह इंसानियत के खिलाफ गुनाह हो रहा है।

5. आगे से जहर बाँटना बन्द करें। खेती में विष मुक्ति का अभियान चलाएँ। अब अमृत पिलाएँ।

6. सरकार खेती को घाटे का सौदा मानती है। उसे फायदे का धन्धा बनाने की कोशिश कर रही है।

7. खेती में घाटे का कारण है (1) भारी लागत, (2) जमीन की घटी ताकत (3) मौसम की बेरुखी तथा (4) बाजार के दाम। इन कारणों से निपटने के लिये विचार करें।

8. ऐसे वैकल्पिक तरीके अपनाएँ जिनमें लागत घटे और उत्पादन बढ़े।

9. जमीन की उपजाने की घट रही कुदरती ताकत को बढ़ाकर वापस लाने के तरीके अपनाएँ।

10. कुदरत से तालमेल करें। मौसम का मिजाज समझकर उसके अनुकूल बीजों का चुनाव करें।

11. फसल के वाजिब दाम मिलें, इसके लिये सरकार निर्णायक पहल करे।

12. परम्परागत खेती के सूत्र फिर से समझें जो प्रकृति से तालमेल वाली खेती है।

13. परम्परागत खेती के मूल तत्व आज की जैविक खेती तथा प्राकृतिक खेती में शामिल हैं।

14. पहले जैविक खेती को ठीक से समझ लें। फिर प्रयोग करें और सन्तुष्ट होने पर अपनाएँ।

15. जैविक खेती के अलावा प्राकृतिक खेती के सफल प्रयोग चल रहे हैं। उन्हें भी ठीक से समझ लें। प्रयोग कर अनुभव करें। ठीक लगे तो अपनाएँ।

16. गौ-वंश को रसायनों ने हटाया था, अब रसायनों को हटाने गौ-वंश को वापस लाएँ।

17. गौ-वंश का रिश्ता खेती से टूट गया है, उसे फिर से जोड़ना होगा।

18. गौ-वंश के गोबर से जैविक खाद तैयार करें।

19. रासायनिक खाद एवं कीटनाशकों को विदा कराने की तैयारी करें।

20. उनकी जगह जैविक खाद और जैविक कीटनाशक इस्तेमाल करें। मित्र कीटों को न मरने दें।

21. जैविक खाद तैयार करने के उन्नत तरीके उपलब्ध हैं, उन्हें सीखें।

22. नाडेप टांका से अच्छी जैविक खाद तैयार होती है। यह प्रयोग प्रचलन में है।

23. केंचुआ खाद भी बहुत अच्छी होती है, उसको तैयार करना सीखें। यह प्रयोग भी प्रचलन में है।

24. तीन फसल लेने का लालच छोड़ें। जमीन को थोड़ी देर के लिये विश्राम दें।

25. तजुर्बा है कि खाली खेत पर तेज धूप पड़ने से अगली फसल ज्यादा अच्छी होती है।

26. गर्मी के दिनों में रबी फसल से खाली खेतों पर नौ-तपा की धूप बड़ी मुफीद होती है।

27. ऐसे परम्परागत टिकाऊ बीज खोजें और उन्हें विकसित करें जो रोग सहन करते हैं।

28. ऐसे बीज चुनें जिनके पौधों की लम्बाई कम और तना मजबूत हो। ऐसे पौधे जलवायु बदलाव के साथ आँधी, पानी के प्रकोप को कुछ हद तक झेल सकेंगे।

29. पूरे खेत में एक ही तरह की फसल नहीं लगाएँ, बहुफसली खेती करें।

30. कभी कोई रोग एक फसल पर आएगा, तो दूसरी फसलें बची रहेंगी।

31. परम्परागत खेती और आधुनिक खेती के बीच तालमेल के सूत्र पहचानें।

32. कम पानी में पकने वाली फसलों को अपनाएँ।

33. सिंचाई के ऐसे साधन अपनाएँ जिनमें पानी की एक भी बूँद बर्बाद नहीं हो।

34. भूजल बेकार न उलीचें। पेयजल संकट को नासमझी से न्यौता न दें।

35. रासायनिक खाद और दवाई के घातक अंश भूजल में न रिस पाएँ।

36. जहाँ बैलों से काम चल सकता हो, वहाँ ट्रैक्टर नहीं चलाएँ। डीजल का खर्च बचाएँ।

37. सिंचाई के लिये वैकल्पिक ऊर्जा वाले सोलर पम्प अपना सकते हैं। बिजली का खर्च बचाएँ।